वैष्णव कबीर



स्वामी योगीराज गोवत्स

आभार



श्री महान्त अभिराम दास जी महाराज

गौ संत सेवी, धर्म निष्ठ, साहित्य, प्रेमी तपस्वी श्री महान्त अभिराम् दास जी महाराज ने वैष्णव कबीर पुस्तक की १००० प्रति पुनः मुद्रण का सम्पूर्ण व्यय वहन कर श्री सम्प्रदाय प्रचार प्रसारसेवा में अखिल भारतीय श्री रामानन्द संघ को भेंट की। इस महान कार्य को सम्पादन करके आपने आचार्यनिष्ठा का परिचय प्रदान किया है उस महानता के लिये संघ आपका शुभ कामना के साथ हार्दिक अभिनन्दन करता है।



साकेतवासी डा० स्वामी योगिराज गोवत्स महाराज

वैष्णव-कबीर

[श्री रामानन्द-सम्प्रदाय का प्रामाणिक इतिहास]

लेखक

साकेतवासी डा० स्वामी योगिराज गोवत्स महाराज

संस्थापक

अ० भा० श्री रामानन्द-युवक-संघ

प्रकाशक

अ० भा० श्री रामानन्द-संघ

आर्थिक-सहयोग

पूज्य श्री महान्त अभिरामदासजी महाराज

केदार नाथ, हिमालय

के सौजन्य से

माघ-कृष्ण सप्तमी
श्री रामानन्द जयन्ती
२६-१-१९९२

पुनः मुद्रण हेतु
सहायता
रु० १५) मात्र

प्रकाशक :
अ० भा० श्री रामानन्द-संघ

मुद्रक :
माधो प्रिन्टर्स
२४२, पुराना बेहराना
इलाहाबाद-३

प्राङ्निवेदन

आदरणीय पाठक महानुभाव !

महान् पवित्र इतिहास, "वैष्णव-कबीर" का द्वितीय संस्करण आपके पावन कर-कमलों में समर्पित करते हुए हम प्रकर्ष हर्ष का अनुभव करते हैं। यह पवित्र ग्रन्थ मात्र "**श्रीकबीरदासजी**" महाराज का जीवन-चरित्र ही नहीं बल्कि, विशाल श्री रामानन्द-सम्प्रदाय का पारम्परिक प्रामाणिक एकमात्र इतिहास है। इस ग्रन्थ का आधार मात्र, जन-श्रुति या शोधग्रन्थ ही नहीं परमपूज्य डा० योगिराज "गोवत्सजी महाराज की योगसाधना से प्राप्त ऋतुम्भरा प्रज्ञा का परिचायक है। अगणित रामानन्दी-सिद्ध-संतों के हृदय के उद्‌गार के रूप में, उनके सम्प्रदाय, परम्परा का जीवन्त मूर्त्तिमान् विग्रह है।

अखिल भारतीय श्री रामानन्द-युवक-संघ के संस्थापक तथा आजीवन अध्यक्ष, पूज्यपाद साकेतवासी डा० योगिराज "गोवत्स" जी महाराज ने स्वयं ही ग्रन्थ निर्माण की प्रेरणा का वर्णन किया है। विक्रम संवत् २०१६ माघ-कृष्ण सप्तमी को इस ग्रन्थ का प्रथम संस्करण प्रकाशित हुआ था। थोड़े समय में ही यह ग्रन्थ दुष्प्राप्य हो गया था। आवश्यक प्रयत्न के अभाव में इस ग्रन्थ के पुनः प्रकाशन में अत्यधिक विलम्ब हो गया। नासिक-कुंभ पर संघ की बैठक में जब श्रीरामानन्दाचार्यसप्त शताब्दी समारोह की रूप-रेखा तैयार की जा रही थी, उसमें इसके पुनः प्रकाशन के लिये हिमालय, केदारनाथ निवासी पूज्य संत श्रीअभिरामदासजी महाराज से आर्थिक सहयोग की प्रार्थना की गयी; जिसे उन्होंने

अपने सम्प्रदाय का पवित्र कार्य मान कर सहर्ष स्वीकार कर लिया। इसके लिये यह सम्प्रदाय उनका चिर कृतज्ञ रहेगा, इस इतिहास में उनका नाम भी स्वर्णाक्षरों में लिपिबद्ध रहेगा। आगामी सिंहस्थ उज्जयिनी कुंभ-मेला में द्वितीय संस्करण को पहुँचाने के लिये संघ के कार्यालय मंत्री श्री लोकनाथदासजी का अथक श्रम सदा स्मरणीय रहेगा।

इस ग्रन्थ से जहाँ हमें गौरवशाली पूर्व-परम्परा पर गर्व होगा, वहाँ आगामी पीढ़ी को मार्ग-दर्शन मिलेगा। **इस ग्रन्थ** ने रामानन्द-युवक-संघ में प्राण संचार किया था, हम सब कार्य-कर्त्ताओं को संस्थापक का **यह ग्रन्थ** नयी-चेतना देगा।

इस महान् ग्रन्थ में कोई परिवर्त्तन, परिवर्द्धन, संशोधन का दु:साहस हम जैसे क्षुद्र प्राणी कर ही कैसे सकते हैं? यह उस सिद्ध-सन्त की रचना है, जो आप्त-पुरुष हैं, आर्ष ऋषि हैं। इसलिये इसे अविकल ही प्रकाशित किया जा रहा है। प्रथम संस्करण में लेखक ने जिन्हें धन्यवाद दिया है, हम, पुनः उन्हें धन्यवाद देते हैं। यह सस्करण साकेतवासी लेखक को थोड़ी भी प्रसन्नता दे सके तो श्रम सार्थक होगा।

बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय,
आचार्यार्पणमस्तु

निवेदक
डा० अयोध्यादास
अध्यक्ष
अ० भा० श्री रामानन्द-संघ

२६-१-१९९२
माघ-कृष्ण-सप्तमी
श्रीरामानन्द-जयन्ती
माघमेला, प्रयाग

समर्पण

मौनीजी महाराज श्रीगरुड़दासजी के कर कमलों में

गुरुदेव ! जिस संसार ने आपके दर्शन किये थे वह मुझे आपका शिष्य समझकर बड़ा ही भाग्यशाली मानता है। भूतकाल के इतिहास में लोगों ने योगीश्वरों के नाम ही पढ़े हैं परन्तु मैंने अपने बीते काल के इतिहास में महान् योगीश्वर के पवित्र चरणों पर अपना मस्तक चढ़ाया है। मैं सोचता हूँ कि जो जल, थल, आकाश तथा अग्नि के ऊपर इच्छानुसार नियत अथवा अनियत काल तक समान रूप से बैठ सकते हैं उनकी सेवा में मुझें प्यारा शिष्यत्व प्राप्त होना कम सौभाग्य की बात नहीं है। आपने मुझे अपनी उस महान् योगविद्या का उपदेश दिया जिसे साधारण संसार कभी नहीं पा सकेगा अथवा जिसकी साधना साधारण सँसार कभी नहीं कर सकेगा। मैं उन दिनों को कभीं नहीं भूलता हूँ जिनमें भयानक प्राणों के निग्रह क्रम में आप मेरे नवजीवन की सम्हाल करते थे। महाराज जी ! आज भी आपकी महान् शक्ति अंश रूप से मेरे अन्दर है और वही आपके भूतल पर न रहने पर भी मेरी हर एक क्षण सम्हाल करती है। उन आर्ष वचनों पर मुझे बहुत ही विश्वास हैं जिनमें गुरुओं की कृपा का महत्व बताया गया है। मैं निरन्तर इसका भी अनुभव किया करता हूं और इसके लिये पश्चात्ताप भी करता हूँ कि मैंने आपके लिये कुछ भी नहीं किया।

गुरुदेव ! आपकी प्रसन्नता के लिये आपके पिछले महापुरुषों का चरित्र ऐतिहासिक रूप में सृजन किया है और वह आपकी कृपा से पूर्ण हो गया ? यह 'वैष्णव कबीर' ग्रन्थ एक सुगन्धमय पारिजात के रूप में आपको समर्पण है। इसे आप स्वीकार करें।

आपका प्रिय शिष्य

स्वामी योगिराज गोवत्स

सम्मति

श्री डा० योगीराज गोवत्सजी द्वारा लिखित "वैष्णव कबीर" पुस्तक का आद्योपान्त अध्ययन करने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ इसमें कोई सन्देह नहीं कि धर्म तथा साहित्य के क्षेत्र में व्याप्त भ्रम एवं भ्रांतियों के अन्धकार का भेदन करने के लिए यह पुस्तक प्रकाश-किरण के ही सदृश है। लेखक ने ज०गु० श्रीरामानन्दाचार्य द्वारा प्रतिपादित वैष्णवता की विवेचनात्मक परिभाषा प्रस्तुत करते हुए बताया है कि जाति पाँति, मिथ्याचार, वाह्याडम्बर आदि की संकीर्ण धारा में वैष्णवधर्म आबद्ध नहीं है। प्रत्युत् इसके आधार-भूत सिद्धान्त हैं भगवत्प्रेम, निश्छलभक्ति, परोपकार, निस्वार्थ सेवा। 'हरि को भजे सो हरि का होई' उक्ति वस्तुतः इसी वैष्णव-धर्म ने ही चरितार्थ की है और इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं रैदास और कबीर।

लेखक ने स्पष्ट किया है कि समय-समय पर वैष्णवता का वाह्य परिधान धारण कर अनेक धार्मिक धाराएँ धर्मक्षेत्र में आईं अवश्य किन्तु यह सच्ची वैष्णवता से बहुत दूर थी। इसके अतिरिक्त इस पुस्तक में विविध दार्शनिक मत, (अद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत एवं शून्यवाद आदि) के साथ विशिष्टाद्वैत की तुलनात्मक समीक्षा प्रस्तुत की गई है। यह विशिष्टाद्वैत ही श्रीरामानन्दाचार्य द्वारा प्रचारित वैष्णवता का आधार है। वैष्णवधर्म ने लोक-रक्षक मर्यादा पुरुषोत्तम राम को आलम्बन रूप में स्वीकृत किया और सृष्टि को राममय बना दिया। वैष्णवधर्म के अन्तर्गत ही "वसुधैव कुटुम्बकम्" एवं "विश्वबन्धुत्व" की भावना का पोषण पल्लवन सम्भव है। यह व्यापक वैष्णवधर्म ही सत्य, शिव, सुन्दर, ज्ञान

कर्म भक्ति की त्रिधारा का संगम है, उपासनाक्षेत्र का पुण्य तीर्थ है।

लेखक ने यह भी बताने का प्रयत्न किया है कि श्रीरामानन्दाचार्य के अनुयायी द्वादश महाभागवतों ने किस प्रकार रामनाम को संजीवनी से जग को अभिसिंचित किया। इन द्वादश महाभागवतों में मर्यादा पुरुषोत्तम राम के अनन्यतम अनुरागी कबीर को लेकर धार्मिक तथा साहित्यिक क्षेत्र में बड़ी ही भ्रांतियाँ हैं। वैष्णव-कबीर को भक्ति के क्षेत्र से हटाकर कोरे ज्ञानवाद में सीमित करना बड़ी भूल है। इस पुस्तक में प्रत्यक्ष प्रमाण ज्वलन्त उदाहरण तुलनात्मक समीक्षा, तथा ऐतिहासिक अनुसंधान द्वारा कबीर के सम्बन्ध में प्रचलित भ्रांतियों के निराकरण का पूर्ण प्रयत्न है। मुझे आशा ही नहीं विश्वास भी है कि वैष्णवता के सार से सिक्त कबीर की ऐतिहासिक गाथा से युक्त पुस्तक "वैष्णव-कबीर" युग-युग तक जिज्ञासु जनों की पथ निर्देशिका बन ज्ञान तृषा तृप्त करती रहेगी।

सरोज बिसारिया
एम० ए०, एम० एड०
प्राध्यापिका
वसन्त महिला कालेज
राजघाट, काशी

I have had the proudest privliege of going through the manuscript of "Vaishnav Kabir" written by Dr. Govatsa Yogiraj, an eminent scholar who has dedicated his entire life in unfolding the mysteries of Vaishnavism to his own followers as well as to the general public at large. The present work is a very succcssful attempt of the writer to impart in a precise

way the clear cut ideals of Vaishnavism, and some useful and much wanted infermation about its famous pillars like Shri Shri Swami Rama Nand Jee, Shri Raidas Jee, Shri Tulsi Dass Jee, Mira Bai and others. The most conspicuous feature of this work lies in successfully removing the various misunderstandings about Shri Kabir, the famous devotee poet of his times and placing him in the true prospective, as a true Vaishnava and an ardent follower of Swami Rama Nand Jee. I am sure this book would fill up the long felt gap in the domain of religion, and literature to a considerable extent. Swamijee indeed deserves our heartiest appreciation for so patiently, persistently and earnestly devoting on such an important work.

JAGDISH SAHAI BISARYA

M. A. (Eco.) M. A. (Pol.) B. T. L. L. B.

Head of the Political Science

Department,

Sanskrit Vishwavidyalya, Varanasi.

प्रस्तावना

इस पवित्र इतिहास के लिखने में मेरी आत्म-प्ररणा अवश्य मुख्य रही है किन्तु उसे बलवान् बनाने में वह सन्त जगत् भी कारण रहा है जिससे सम्बन्धित यह ग्रन्थ है ऐतिहासिक जगत् में रामानन्द, कबीर एवं तुलसीदास आदि पर लोगों ने अनेक ग्रन्थ लिखे हैं, परन्तु वे महानुभाव उन महापुरुषों का यथार्थ स्वरूप संसार के सामने नहीं ला सके थे। कहीं-कहीं पर तो ऐसा प्रतीत होता है कि वह पवित्र स्वरूप जानकर और भी बिगाड़ा गया है। इसका कारण जो भी हो परन्तु इससे एक लम्बे उस धार्मिक वैष्णव जगत को बड़ा ही क्षोभ हुआ है जो उन महापुरुषों का अनुयायी है लोग यह चाहते रहे हैं कि रामानन्द, कबीर एवं तुलसीदास आदि का पवित्र स्वरूप जैसा है वैसा ही संसार के सामने आना चाहिये। ये विचार बहुत से पवित्र हृदयों से निरन्तर उठते रहे हैं और मूकरूप से वायुमण्डल में घूमकर विलीन हो जाते रहे हैं। लेखकों ने इस पर कभी भी अच्छा ध्यान नहीं दिया। यह एक खटकने की बात थी जो उसी तरह खटकती रही। बहुत से विद्वांनों के भीतर कभी कभी उस दोष के हटाने की प्रेरणा भी हुई परन्तु वह सफल नहीं हुई। समय बलवान होता हैं जो सब कुछ कराता है, मुझे भी उसने प्रेरित किया ओर मैं इस महान् कार्य को करने के लिये अग्र-सर हुआ।

महापुरुषों का इतिहास लिखना बड़ा ही कठिन होता है। वह कल्पनाओं से अथवा केवल साधारण पुस्तकों को देखने से नहीं लिखा जाता, उसके लिये एक गम्भीर खोज की भी आवश्यकता होती है। लेखक के हृदय में उदार और त्याग भावना भी होनी

चाहिये, नहीं तो उसकी देन लोकहित में कभी भी उत्तम नहीं होगी। प्रायः बहुत जगह देखा गया है कि लेखकों ने अपने तुच्छ स्वार्थ के लिये इतिहासों को जानकर भ्रष्ट किया है। कहीं किसी को चढ़ाकर लिखा है तो कहीं किसी को गिराकर लिखा है। यह एक बहुत ही बुरा पाप है जो ऐतिहासिक महापुरुषों के इतिहास लिखने में कभी भी नहीं होना चाहिये।

'वैष्णव कबीर' ग्रन्थ मैंने बड़ी ही पवित्र भावना से लिखा है और वह निर्विघ्न पूरा भी हो गया है। ईश्वरवादी होने के नाते से मैं इसे राम की असीम अनुकम्पा मानता हूँ। मैंने इस ग्रन्थ के लिखने में यह समझाने की बार-बार चेष्टा की है कि महापुरुषों के चरित्रों में यथार्थ सत्य क्या है ? मैंने यह ग्रन्थ कबीरजी पर लिखा है परन्तु जो इसमें और दूसरे इतिहासों के रूप में अवान्तर कथानकों का उल्लेख हुआ है वह मूल का ही पोषक है, उसके बिना कबीर जी के वैष्णव जगत की झाँकी कभी भी यथार्थ नहीं होती।

इस इतिहास के अन्दर स्थल-स्थल में राष्ट्र निर्माण की एक झलक सी दीखतीं है; वह स्वाभाविक ही आई है। वस्तुतः ग्रन्थ के जो भी महापुरुष हैं वे सब इस महान् राष्ट्र के सर्वप्रथम निर्माता हैं। उन्हें राष्ट्र की भाग्यशाली भावी-पीढ़ियाँ इस ग्रन्थ में पढ़ेंगी और यथार्थ रूप में जान सकेंगी कि उनके लिए पिछले युगों में उनके धर्मगुरुओं ने क्या किया है और क्या दिया है।

कबीरजी का वैष्णवधर्म श्रीसम्प्रदाय से सम्बन्ध रखता है। वह एक परोपकारी धर्माचार्यों की परम्परा द्वारा कबीर तक पहुँचा है। उसकी व्यापकता दूसरी वैष्णवी धाराओं से कहीं अधिक महत्व रखती है। वह हर एक वर्ग के प्राण को सुलभ है। इस धर्म के उपास्यदेव मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम हैं। वे भी बड़े उदार हैं और इसी कारण लोक ने उन्हें विशेष रूप से अपनाया है। इतिहास में

और भी वैष्णवधर्म की धारायें आई हैं उन्हें ठीक समझने के लिए इस ग्रन्थ में उनका भी संक्षिप्त परिचय दिया गया है।

रामानुज के सम्बन्ध को लेकर ऐतिहासिक जगत् में एक बड़ी भ्रान्ति खड़ी हुई है, उसे हटाने के लिये रामानुज के इतिहास का विशेष विवेचन किया गया है। यद्यपि उस विवेचन में रामानुज के चरित्र की कुछ आलोचना हो गई है परन्तु वहाँ आक्षेप या दुर्भावना नहीं है, वह एक सही इतिहास है।

भगवान् बुद्ध या उनसे पहले या पिछले दार्शनिकों का जो इस ग्रन्थ में उल्लेख हुआ है वह धार्मिक धाराओं के आधार को लेकर ऐतिहासिक जगत् पर प्रभाव भी डालता है और महत्व भी रखता है इसी कारण उसका भी इस धार्मिक इतिहास में संकलन करना उचित समझा गया है।

पिछले माध्यमिक युग से ज्ञान और भक्ति के विषय को लेकर प्रजा के भीतर एक भ्रम खड़ा कर दिया गया है, उसके कारण लोग जीवन सम्बन्धी वास्तविक साधन स्थिर नहीं कर पाते हैं। यह भी एक रोग है और इसके हटाये बिना भी प्राणी को कभी शान्ति नहीं मिल सकती। इस ग्रन्थ से सम्बन्धित महापुरुषों ने इस रोग को मिटाने का विशेष प्रयत्न किया है और वे अपने कार्यों में अधिक सफल भी हुये हैं। उन प्रसंगों में भक्ति और ज्ञान की एकता करके जो कुछ उपदेश दिया गया है, उसे खोलकर समझाने का इस ग्रन्थ में प्रयास भी किया गया है।

पिछली ऋषि प्रणाली ने योग साधना का भी व्याख्यान सुना गया है और उस समय उसका प्रचार भी हुआ है। वह साधना मनुष्य जीणन के लिये बड़ी ही उत्तम कही गई है। उसी तरह उसमें प्रवेश करना भी बड़ा ही कठिन बताया गया था। काल पाकर वह साधना सर्वधारण से दूर हो गई और फिर केवल उसका प्रचार

सन्त महात्माओं के भीतर ही रह गया। उस योग सम्बन्धी विचारों को भी ज्ञान का रूप दिया गया है परन्तु वह ज्ञान इस निर्गुण धारा वाले आज के शुष्क ज्ञान से सर्वथा भिन्न है। इसे बहुधा लोग नहीं समझते हैं और उस ज्ञान को भी इसी में शामिल कर लेते हैं। कबीरजी योगी थे, उन्होंने जहाँ योग-सम्बन्धी विचारों की चर्चा की है उसे भी लोगों ने वास्तविक रहस्य न समझ कर निर्गुण धारा में ही गिन लिया है। इस भेद को भी इस ग्रन्थ में समझाने का प्रयत्न किया गया है।

यह ग्रन्थ जहाँ तक भी हुआ है बड़ी सावधानी से लिखा गया है फिर भी इसमें अनेक भूलें रही होंगी, जिनका रहना मानव बुद्धि में स्वाभाविक ही हैं। यह कोई भी अभिमान नहीं कर सकता कि वह जो कुछ कहता है वह सत्य ही है। हाँ वह यह कह सकता है कि बुद्धिवाद अपूर्ण होने से वहाँ भूलें रहना स्वाभाविक ही है परन्तु वे क्षम्य हुआ करती हैं। इस न्याय से इस ग्रन्थ की भूलें भी क्षम्य होंगी, ऐसी आशा करता हुआ मैं अपने इस ग्रन्थ को संसार के सामने रख रहा हूँ। यदि मेरा रचा हुआ यह ग्रन्थ मानव जाति को कुछ भी प्रकाश दे सका तो मुझे प्रसन्नता होगी और मैं अपना किया हुआ परिश्रम सफल समझूंगा।

स्वामी योगीराज गोवत्स

विषय-सूची

———

वैष्णव कबीर

धर्मगुरु भारत की गरिमा और महिमा का ज्योतिर्मान प्रदीप समय में झंझावातों को सहन करते-करते मलिन पड़ने लगा था। श्रद्धा, विश्वास और निष्ठा की नींव हिलने लगी थी। देवत्व की इस पुण्य भूमि पर दानवता का नर्त्तन होने लगा था। क्रूरता नृशंसता एवं अनीति भारतीय रंगमंच पर मुक्तभाव से क्रीड़ा करने लगी थी। मर्दित दलित मानवता के आर्तक्रन्दन में सुख शान्ति एवं सौभाग्य की सुरम्य संगीत लहरी डूबने लगी थी। जन जीवन में निस्सम्बलता एवं नैराश्य का गहन अन्धकार छा गया था। तभी एकाएक वैष्णवता के आकाश पर तेजपुंज श्रीरामानन्द प्रभाकर के दर्शन हुए और उनकी द्वादश किरणें सुख एवं शान्ति का सन्देश लेकर इस सृष्टि को स्वर्गमय बनाने के लिए पृथ्वीतल पर अवतरित हुईं। इन ज्योतिर्मयी किरणों ने जनजीवन में व्याप्त निराशा की कालिमा का भेदन कर धर्म और भक्ति की दीपशिखा प्रज्ज्वलित की। परतन्त्र नैतिकता मुक्त हुई चेतना में सजगता आई, मानव ने मर्यादा के दर्शन किये और अभय का वरदान पा लिया। तेजपुंज की ज्योतिर्मान द्वादश किरणें कोई और नहीं युग-युग में अवतरित होनेवाली महानतम विभूतियाँ ही थीं। उनके ज्ञानालोक से कल्मषता एवं विभीषिकाओं से पूर्ण भूलोक आलोकित हो उठा। इन्हीं महानतम विभूतियों में कबीरदासजी भी एक विभूति थे। उन्होंने इस देव-

पूजिता पृथ्वी पर रामनाम की चिर ज्योतिर्मयी वर्तिका प्रज्ज्वलित कर दी। विश्वास तथा भक्ति का सबल सुदृढ़ वितान तान कर निराश्रित एवं भ्रमित जनता को आश्रय दिया। कबीरजी ने कुचक्र, सामाजिक विडम्बनाओं एवं वाह्याडम्बरों से परे सुख शान्तिपूर्ण जीवन यापन का सन्देश दिया। उनकी अमरवाणी चिरकाल तक भारत के कण-कणमें ध्वनित होती रहेगी। भारत की भावी सन्तति युग-युग तक इस महामनीषी के चरणों में श्रद्धा एवं निष्ठा की पुष्पाञ्जलि अर्पित करती रहेगी। राम का यह अनन्य भक्त अमर है और अजर-अमर है उसकी वाणी।

कबीरजी का प्रादुर्भाव

श्रीकबीरजी महाराज का जीवन इतिहास बड़ा ही मार्मिक है। जन्म से लेकर अन्त तक उनके सभी चरित्र लोकोत्तर चमत्कारों से व्याप्त मिलते हैं। दुन्यिाँ के लोग उन बातों पर आश्चर्य कर सकते हैं परंतु यह कोई 'अभूतपूर्व' बात नहीं है क्योंकि लोक में ऐसे बहुत से इतिहास मिलते हैं जिनमें ऐसे ही महापुरुषों के उदाहरण हैं। कबीरजी के प्रादुर्भाव का प्रसंग तो बहुत ही गम्भीर है। भगवान् श्रीविश्वनाथ की पवित्र पुरी काशी नगरी के समीप किसी 'लहरतारा तालाब' के अन्दर एक नवजात शिशु के रूप में संसार ने उनका सर्वप्रथम दर्शन किया। बहुत सी दन्तकथाओं में ऐसा भी कहा गया है कि किसी ने लोक लज्जा के कारण लहरतारा तालाब के समीप उस बालक को फेंक दिया था। इसके अतिरिक्त और भी कई तरह की कल्पनायें इस सम्बन्ध में मिलती हैं परन्तु हम उन्हें यथार्थ प्रमाण नहीं मान सकते क्योंकि उनका कोई मूल आधार नहीं है। एक ग्रन्थ पैशाची भाषा में लिखा हुआ उपलब्ध हुआ है। उनका नाम "प्रसङ्ग पारिजातम्" है और वह अष्टपदियों में लिखा गया है। उसकी रचना का काल अब से पाँच सौ वर्ष पूर्व लिखा गया है। भाषा की दृष्टि से यह ग्रन्थ अवश्य ही बहुत प्राचीन है क्योंकि कई शताब्दियों से इधर इस भाषा का उपयोग सर्वथा नहीं ही किया जाता है और फिर इस भाषा के विद्वान् भी लोक में सर्वत्र नहीं दीखते, कहीं-कहीं छिपे हुए रूप से कोई हो यह बात दूसरी है। दो हजार वर्षों से पहले तो यह भाषा संसार में जीवित थीं। कहते हैं कि ईसा की प्रथम शताब्दी में विद्वान् 'गुड़ाढ्य' ने वृहत्कथा' नाम का ग्रन्थ जिसका उल्था 'कथा सरित सागर' नामक संस्कृत ग्रन्थ में हुआ—इसी भाषा में रचा था। उस समय तो

यह भाषा साहित्यिक रूप में प्रचलित थी। 'प्रसङ्ग पारिजातम्' में युग प्रवर्तक आचार्य पाद श्रीरामानन्दाचार्यजी का जीवन चरित्र है। उसी में उनके शिष्य कबीरजी का भी प्रसङ्गवश इतिहास आया है। ऐतिहासिक दृष्टि के आधार पर वह ग्रन्थ अधिक प्रामाणित है। उसमें निम्नलिखित कबीरजी के प्रादुर्भाव का प्रसङ्ग आया है—

पइहो दिहा धुत पावगी। रम्भोस नाहुन आवगी।
मुक दूम मैथा हावगी। पद सेसु अरणा तावगी ॥१॥
दौरीणुजा निसता गमर। पौरी भुना खिलमा नसर।
आभारु नाच्छितु धानुगर। कोपीनु सिणु भउ तापहर ॥२॥
माऊस ताउस भाउसी। महताण गीसा हाउसी।
तंभूरु जंभरु ताउसी। आदासु औपट आउसी ॥३॥
वसहा विधा अवनीसुता। पट तीणु दाहौ संयुता।
पठरीण सैहा तानुता। धरणा पिना डागौ भुता॥४॥
जब खारता भुजना बना। जइनी जुनी कत रावना।
मैदी प्रतीची ताजना। सत्तरु, सिपादिक आजना ॥५॥
जुणतान गौनी वासना। तूँणा भदाणूँ आसना।
मोहूत लाहत जासला। कैसा रसाउज कासला॥६॥
सुहिया अनन्ता नन्दजी। उहिया कहूठा जन्दजी।
मौडिस गवाकुस पौहरी। जानैट जिहुना बौहरी ॥७॥
आपात ओट्ठा अँसुई। जब गाष गुन्ना सँकुई।
ननली नसीउन संभुई। भवखी भुपी पर रचुई ॥८॥

(प्र० पारिजातम् अष्टपदी २६)

इस अष्टपदी में आचार्य पाद श्रीरामानन्द स्वामीजी के सम्बन्ध में ही कुछ विवरण है परन्तु प्रसङ्गवश कबीरजी के भूतल पर आने का भी थोड़ा-सा संकेत है।

काशी में एक पाद्धतेश्वरजी नाम के सन्त एकान्त निवास करते थे। वे आचार्य रामानन्द के कृपा पात्र थे और योग साधन में निरन्तर लगे रहते थे। एक दिन उनकी साधना में कहीं भूल हुई और श्वाँस प्रश्वाँसों की गति विपरीत हो गई, इस कारण उन्हें बड़ा ही क्लेश होने लगा। श्रीगुरुदेव के चरण कमलों का ध्यान किया। मंत्र से आकर्षित होकर जैसे देवता भक्त के पास चले आते हैं उसी तरह आचार्य पाद तुरन्त अपने शिष्य के आश्रम पर पहुँच गये। वहाँ उन्होंने अपनी कृपा दृष्टि से उनके सब विघ्न दूर कर दिये और योग सम्बन्धी सभी रहस्यों को समझा दिया। पद्धतेश्वरजी भी आचार्य के दर्शन करके कृतार्थ हो गये।

शिष्य की दशा सम्हालकर आचार्य भगवान् अपने आश्रम को लौट रहे थे, उसी समय मार्ग में एक आकाश से योगीश्वरों का मण्डल भूतल पर उतरा और स्वामीजी के सामने नमस्कार करके खड़ा हो गया। उस मण्डल ने विनम्रभाव से स्वामीजी की स्तुति की और पीछे निवेदन किया, प्रभो! भक्त शिरोमणि श्रीप्रह्लादजी आपकी सेवा में आना चाहते हैं परन्तु उन्हें गर्भ में धारण करने वाली कोई माता पृथ्वी पर नहीं मिलती, योगीश्वरों के निवेदन पर आचार्य भगवान् ने उत्तर दिया, योगीश्वरों! भक्तवर प्रह्लाद के भूतल पर आने का प्रबन्ध हो गया है। देवाङ्गना भगवती प्रतीची उन्हें माता रूप में प्राप्त होंगी और उनका जन्म देकर अपने लोक को चली जायेंगी। स्वामीजी का आदेश सुनकर योगीश्वरों का मण्डल नमस्कार करके आकाश मार्ग से चला गया। तदनन्तर आचार्य अपने आश्रम पर पहुँच गये। ये सब बातें पिछली रात के प्रहर में ही हुई थीं। स्वामी नित्य कर्म से निवृत्त होकर

अपने भजन के आसन पर विराजमान हुए, पीछे शंख ध्वनि हुई और उससे रात के आगन्तुक लोग जगे।

आश्रम पर एक घटना घटी, एक गोप कन्या जगे हुए लोगों में से आश्रम के भीतर आई। वह पागल सी प्रतीत होती थी। सुषुप्ति अवस्था में जैसे जीव रहता है उसी तरह वह सूर्योदय तक वहीं पड़ी रही। आचार्य के प्रधान शिष्य श्रीअनन्तानन्दजी ने उस पर जल सिञ्चन किया और उसे सचेत बनाया। उसकी अवस्था चिन्मय सी प्रतीत हुई, उसकी सूचना श्री स्वामीजी की सेवा में दी गयी। चरणामृत देने की आज्ञा हुई और उसे वह दिया गया। चरणामृत उसके ओष्ठों से छुआ और वह सचेत हो गई। उसने स्वामीजी के द्वार को नमस्कार किया। उसी समय एकाएक उसके शरीर में आग पैदा हो गई और उससे उसका स्थूल शरीर नष्ट हो गया। तदनन्तर उसने वहीं दिव्य शरीर प्राप्त किया और आचार्य भगवान् की स्तुति करके स्वर्ग लोक को चली गई।

इस प्रसंग से युगों के महान् कार्य सम्हालने के लिये धरातल पर महान्-महान् विभूतियों के उतरने का संकेत मिलता है। आचार्य रामानन्द उस युग के महान् अवतार थे। उन्हें भूत और भविष्य के सम्बन्ध में सब कुछ विदित था। ऐसा प्रतीत होता है कि उस युग के चक्र को बदलने का क्रम उन्हीं के हाथ में था। भक्तवर प्रह्लाद को अपनी सेवा में बुलाने की योजना उन्होंने योगीश्वरों के मण्डल को बता दी थी। भगवान् व्यास ने श्रीमद्भागवत के अन्दर भक्तवर प्रह्लाद को द्वादश महा भागवतों के अन्दर लिखा है। यहाँ पर भक्तवर प्रह्लाद ही विश्वविख्यात कबीरजी हुए हैं। छठे स्कन्ध भागवत में द्वादश महाभागवतों का वर्णन हुआ है—

धर्मं तु साक्षाद्भगवत्प्रणीतं न वै विदुर्ऋषयो नापिदेवाः
न सिद्ध मुख्याः असुरा मनुष्याः कुतश्चविद्याधरचारणादयः।

स्वयम्भूर्नारदः शम्भूः कुमारः कपिलोमनुः
प्रह्लादो जनको भीष्मो वलिर्वैयासकिर्वयम् ।
द्वादशैते विजानीमो धर्मं भागवतं भटाः
गुह्यं विशुद्धं दुर्वोधं यं ज्ञात्वामृतमश्नुते ।

(श्रीमद्‌भागवते षष्ठस्कन्धे अध्यायः ३)

अजामिल के प्रकरण में स्वयं यमराज ने अपने दूतों से कहा, भगवत्सम्बन्धी धर्म का भगवान् ने ही निर्माण किया है । उसे देवता, ऋषि, मुनि, सिद्ध तथा मनुष्य भी नहीं जानते तब विद्याधर और चारण आदि तो जान ही कैसे सकते हैं । भगवद्धर्म की महिमा बहुत ही गूढ़ है उसे जो जान लेता है वह भगवान् का रूप ही बन जाता है । दूतो ! भगवान् के रहस्य को हम बारह भक्त ही जानते हैं दूसरा कोई नहीं जानता । ब्रह्माजी, नारदजी, शंकरजी, सनत्कुमार, कपिलदेव, मनु, प्रह्लाद, जनक, भीष्म पितामह, बलि, शुकदेव और मैं (धर्मराज) ये ही द्वादश महाभागवत कहलाते हैं' ।

उपरोक्त इस कथानक में प्रह्लाद का नाम द्वादश महाभागवतों में लिया गया है । प्रह्लादजी ही कबीरजी हैं इस सम्बन्ध में अगस्त संहिता के अन्तर्गत श्री रामान्दावतारोपाख्यान में निम्नलिखित विवरण है—

निष्ठातदीय कैंकर्य्ये रुतस्तस्य महात्मनः ।
नक्षत्रे शशि देवत्ये चैत्र कृष्णाष्टमी तिथौ ।
प्रह्लादः कबीरस्तु कुजे सिहे च शोभने ।
जातो वेदान्त सन्निष्ठः क्षेत्रवासरतस्तदा ।

(श्रीरामानन्द जन्मोत्सव ग्रन्थ से)

चैत्र कृष्ण अष्टमी के दिन मृगशिरा नक्षत्र, शोभनयोग सिंह लग्न में भक्तवर प्रह्लादजी जन्म लेकर कबीरजी के नाम से प्रख्यात होंगे । वे महात्मा परम वैराग्यवान तीर्थवासी तथा वेदान्त रहस्य

के ज्ञाता होंगे और अपने परम गुरुदेव श्रीरामानन्द स्वामीजी की सेवा में पूर्ण निष्ठा रक्खेंगे।

यह प्राचीन इतिहास कबीरजी के सम्बन्ध में आया है। उसी प्रकरण में भी लिखा है कि सभी द्वादश महा भागवत उस समय अवतरित हुए हैं और वे ही सब आचार्य रामानंद के बारह प्रधान शिष्य कहलाये हैं। आचार्य रामानन्द का परिचय आगे चलकर उनके प्रकरण में देंगे। वे क्या हैं ? पाठक उन्हें वहीं पढ़ेंगे।

भगवंती प्रतीची आदिशक्ति के रूप में थीं और वे स्वर्ग से मृत्युलोक में उतरीं। यह महान् युग की प्रेरणा थी। भक्तवर श्री प्रह्लाद को भूतल पर आना था। देवी प्रतीची किसी महर्षि की वाटिका में सुन्दर पुष्पों के बीच में विचरने लगीं। वाटिका के भीतर स्त्रियों का प्रवेश निषेध था। प्रतीची ने बिना आज्ञा एक सुन्दर सुगन्धित पुष्प तोड़ भी लिया। संयमी महापुरुष ने प्रतीची का यह कार्य देखा और रोष प्रगट किया। उन्होंने कहा, 'पुत्र के समान प्रिय पुष्प को बिना आज्ञा के क्यों स्पर्श किया ? इसका फल प्राप्त करो' महापुरुषों का वचन मिथ्या नहीं होता। उन महात्मा का वचन भी मिथ्या नहीं हुआ। देखते ही देखते वह सजीव पुष्प प्रतीची की गोद में बड़े ही सुन्दर बालक के रूप में परिणित हो गया। भगवती प्रतीची वाटिका से अलग हो गईं और विचार करने लगीं कि क्या करना चाहिये। उन्होंने उस बालक को 'लहरतारा तालाब' के अन्दर एक कमल के पत्ते पर सुला दिया और वे अदृष्ट रूप से वहीं खड़ी होकर देखती रहीं। उसी समय दम्पति जुलाहा वहाँ होकर निकले। उन्होंने उस बालक को कमल के पत्ते पर सुलाया हुआ देखा, पहले तो वे चकित हुए और फिर विचार किया कि बालक किसका है, और कैसे कमल के पत्ते पर आया ? वहाँ कोई भी नहीं था जिससे सम्बन्धित उस बालक को वे समझते। बहुत सोच विचार करने के बाद उस बालक को उन्होंने उठा लेना निश्चय

किया। भाग्यशाली 'नीरू' पानी में घुसे और नवजात शिशु को गोद में उठा लिया। जुलाहे के स्पर्श से बालक की स्वर्गीय कान्ति नष्ट हो गई।

उन्होंने उस बालक को अपनी पुण्यात्मा पत्नी श्रीनीमा को दे दिया। अनेक प्रकार की बातें करते-करते दोनों दम्पति अपने घर पहुँच गये।

कबीरचौरा से प्राप्त दूसरी जन्म कथा

काशी के अन्दर महाराज श्रीकबीरजी का एक 'कबीर चौरा' नामक प्राचीन स्थान है। उससे कबीरजी के जन्म सम्बन्धी एक दूसरी कथा भी हमें मिलती है। यह कथा भी उपरोक्त कथा से मिलती सी है। हम उसे भी नीचे लिख रहे।

परमपिता परमात्मा राम रामानन्द के रूप में अवतार ले चुके हैं। उन्हें आचार्य बनकर विश्व का उद्धार करना है। द्वादश महा भागवत भी उनकी सेवा के लिये क्रमशः अवतार लेने लगे हैं। ब्रह्मा, अनन्तानन्द नाम से उत्पन्न हुए हैं, शंकर सुखानन्द के नाम से हुए हैं, नारदजी सुरसरानन्द के नाम से हुए हैं. सनत्कुमार नरहरियानन्द के नाम से हुए हैं उसी तरह कपिल योगानन्द, मनु पीपा, प्रह्लाद कबीर, जनक भावानन्द, भीष्म सैनाजी, बलि धनाजी, शुकदेव गाल्वानन्दजी, यमराज रमादास (रैदास) आदि नामों से उत्पन्न हुए हैं। यह चर्चा वैकुण्ठ में लक्ष्मी और नारायण के बीच चल रही थी। नारायण ने लक्ष्मी से आचार्य रामानन्द के तेज प्रताप का भली भाँति वर्णन किया। लक्ष्मीजी की इच्छा हुई कि वे आचार्य रामानन्द के दर्शन करतीं। भगवान् वैकुण्ठनाथ ने उन्हें वैसा करने की आज्ञा दे दी। वे मृत्यलोक में आईं और आचार्य की वाटिका में विचरने लगीं। वाटिका में कुछ स्वर्गीय पुष्प लगे थे। उन्हें उन्होंने तोड़ कर अपनी गोद में रख भी लिया। संयोगवश आचार्य रामानन्द उस वाटिका में पहुँचे और उन्होंने भगवती लक्ष्मी को देखा। वे उन्हें

पहचान गये और उनका सम्मान करते हुये बोले। देवि ? यह तुम्हारी गोद में क्या है ? लक्ष्मी ने उत्तर दिया। भगवान् ? यह बच्चा है। आचार्य ने कह दिया, 'एवमस्तु'। तुरन्त गोद में फूलों से बच्चा हो गया भक्तवर प्रह्लाद लक्ष्मी माता की गोद में आ गये, आचार्य रामानन्द का तेज प्रताप लक्ष्मीजी ने देखा और वे वहाँ से चल दीं। आचार्य पाद तो सब जानते ही थे, वे भी अपनी गुफा में भजन के लिये चले गये। अम्बा लक्ष्मीजी ने उस बालक को लहरतारा तालाब के अन्दर कमल के पत्ते पर सुला दिया और वे बैकुण्ठ चली गईं। आगे श्रीनीरू और नीमा ने उस दिव्य बालक को प्राप्त किया।

कबीरजी के जन्म का यह प्रसंग अवश्य अद्भुत है परन्तु प्राचीन महात्माओं ने इसे श्रद्धा और विश्वास से माना है। हम उनके विचारों पर कुछ भी आलोचना नहीं करना चाहते इस कारण कि हम उनके सामनें अल्पज्ञ हैं।

'उपरोक्त प्रसङ्ग पारिजातम्' की कथा में और इस कथा में कोई अधिक अन्तर नहीं है। यहाँ भगवती प्रतीची हैं और यहाँ भगवती लक्ष्मी हैं, शेष बातें एक सी हो हैं अत: दोनों कथाएँ एक ही रूप की दीखती हैं। प्रतीची और लक्ष्मी एक ही आधार की होने से भिन्न नहीं कही जायँगी। इन दोनों कथानकों से कबीरजी का प्रादुर्भाव एक अमोघ आशीर्वाद के द्वारा पुष्पों से ही होना सिद्ध होता है।

श्रीमान् नीरू और श्रीनीमा बालक को लेकर जब घर पहुँचे। तब नगर में एक कुतूहल मच गया। चारों ओर से लोग बालक की विचित्र कहानी सुन कर उसे देखने के लिये दौड़ने लगे। भीड़ की भीड़ नीरू के घर जमा हुई और सबने नवजात शिशु के दर्शन किये। झिगुली, वलय, किंकिणीं तथा नूपर बालक की भेंट में चढ़े। बड़ी रात तक इसी प्रकार वहाँ का वातावरण बना रहा। बहुत से उदार महानुभावों ने बालक की रक्षा पर भी ध्यान दिया। पड़ोस

में रहनेवाली एक 'कर्मा' नाम की ब्राह्मणी ने स्वयं ही बच्चे को अपना दूध पिलाना स्वीकार कर लिया। उसकी एक मास पहले हाल ही जन्म लेने वाली कन्या मर चुकी थी। एक भक्त वैश्य ने दूध देने वाली गऊ भी बालक के दूध पीने के लिये नीरू के घर भेज दी। यह सब हुआ, परन्तु बालक ने किसी का भी दूध नहीं पिया। इस प्रकार तीन दिन हो गये। नीरू और नीमा के साथ तमाम सहानुभूति रखनेवाले लोग हैरान थे। सारे नगर में ही यह बात व्याप गई थी। आचार्य श्रीरामानन्द स्वामीजी को तो इस बात का पहले से ही ज्ञान था फिर भी उनके पास समाचार पहुँचा। उन्होंने गुप्त रूप से अपने बड़े शिष्य अनन्तानन्दजी के द्वारा एक 'सुधामुची' नाम की जड़ी बालक के मुख में रखने को भेजी। उसे बालक के मुख में रखा गया। जड़ी के मुख में स्पर्श करते ही बालक की गई हुई कान्ति लौट आई। बालक जड़ी को चूसने लगा। उस जड़ी का नाम आगे चल कर 'कबीरबूटी' पड़ा। उसके अनन्तर बालक दूध भी पीने लगा। परम पुण्यात्मा श्रीकर्मा देवी ने सर्वप्रथम अपना दूध पिलाया और समय-समय पर आवश्यकतानुसार गऊ का दूध भी बालक को दिया गया।

नीरू के घर समय पाकर मौमिन आया और दिव्य बालक का दर्शन किया। उसने पिता के नामानुसार शरयी भाषा की शब्दावली छानबीन की और बालक का नाम 'कबीर' रखा। कबीर के माता और पिता के स्थान में वे ही पवित्र आत्मा नीरू और नीमा ही रहे। उनके भाग्य की कोई कैसे प्रशंसा कर सकता है जिनके पुत्र विश्ववन्द्य कबीरजी कहलाये। वे महान् आत्माएँ जन्मान्तर में कौन थी इस विषय का उल्लेख कहीं नहीं पढ़ा। फिर भी हम अनुमान कर सकते हैं कि वे दोनों पिछले जन्मों की कोई विशेष महान् विभूतियाँ थीं।

———

कबीरजी का जन्म समय

प्राचीन लेखकों ने महात्माओंके जन्म सम्वत् लिखने को अधिक महत्व नहीं दिया है। विशेष करके उन्होंने उनके उपदेशों को ही अपनाया है। संयोगवश कहीं-कहीं उनके महान् कार्यों के साथ ऐतिहासिक काल का भी उल्लेख हो गया है, इसलिये उनके जीवन काल का शताब्दियों के रूप में ही पता चला करता है। कभी-कभी युगों के उथल-पुथल में भी बड़े-बड़े महापुरुषों की जीवन सामग्री नष्ट हो जाती है, वहाँ भी उनके महान् कार्य ही काल के साथ प्रजा की स्मृति में पड़े रह जाते हैं। आगे चलकर वे ही उनके पवित्र नाम के साथ जुटकर अमर इतिहास का रूप ले लेते हैं। यदि कोई उनके जन्म सम्वतों का पता लगाना चाहे तो उसे वहाँ बड़ी ही कठिनाई पड़ती है। एक बात और यह है; विरक्त सन्त संन्यास ग्रहण करने के बाद अपने पूर्व जन्म और सम्वत् का स्वयं ही उल्लेख नहीं करते हैं और न संसार को ही उन बातों का स्मरण कराते हैं, ऐसा करने को उनका वह चतुर्थ आश्रम निषेध करता है। जिस दिन वे वैराग्य धारण करते हैं उसी दिन उनका नाम, वर्ण और स्थान सर्वथा बदल जाता है। संसारी लोग उनके उसी आश्रम सम्बन्धी चिह्न से उन्हें पहचानते हैं। बहुत से सन्त महात्माओं के पूरे सम्वत् सभी प्रमाणों के साथ नहीं मिलते वहाँ यह भी एक कारण है। ऐसा होते हुए भी कुछ महात्माओं के जन्म सम्वत् सप्रमाण मिलते भी हैं वह एक संयोग और संस्कार की ही बात है वहाँ महात्मा उसके कुछ कारण नहीं हैं। उनके जन्म की विलक्षण घटना ही उनके जन्म की प्रसिद्धि का कारण बन जाती है; आगे चलकर वह ऐतिहासिक रूप ले लेती है। गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी इसके लिए उदाहरण हैं। उनका जन्म समय कुण्डली के सहित

उपलब्ध होता है इसलिए कि वह एक ऐसी दुखद घटना थी जिसे संसार ने कभी नहीं भुलाया और आगे चल कर वह स्वयं ही इतिहास का रूप बन गई। कबीरजी महाराज के सम्बन्ध में वह बात नहीं है उनका जन्म वैसी दुखद घटना में नहीं था, वह रहस्यमय था। उनका शिशुकाल एक जुलाहे के घर बीता। उनकी जन्म कुण्डली अज्ञात थी. वह इस्लाम की शरियत के आधार पर बनी होगी, जिसका उपयोग आगे चलकर अनावश्यक हुआ। इस समय अब उनकी जन्म कुण्डली ढूँढ़ने में असाधारण कठिनाई है। लोगों ने जो कुछ उनके बाद जन्म समय पर यत्किञ्चित् लिखा भी है वह ऐतिहासिक आधार पर सही नहीं उतरता। हम इस पर कुछ भी विवाद उठाना नहीं चाहते थे, हम केवल यही कहना चाहते थे कि वे इस राष्ट्र की पवित्र निधि हैं उनके उपदेश उनके कार्य और उनका नाम हमारे लिए पूजा की वस्तु है, हमें उसे नहीं भूलना चाहिये। ऐसा होते हुए भी युग के अनुसार आज के इतिहासकारों ने उनके जन्म पर पुनः कुछ विवाद किया है अतः हम भी उस पर कुछ विचार करना आवश्यक समझते हैं।

महात्मा धरमदासजी की रचना के आधार पर कबीरजी का जन्म सम्वत् कुछ लोगों ने प्रमाण माना है। कहते हैं कि धरमदासजी श्रीकबीरजी के शिष्य थे। उन्होंने लिखा है—

चौदह से पचपन साल गये चन्द्रवार एक ठाठ ठये।
जेठ सुदी बर सायत की पूरणवासी प्रगट भये॥

लोगों ने इसका अर्थ किया है, १४५५ वि० सम्वत् की जेठ पूर्णिमा में सोमवार के दिन कबीरजी का जन्म हुआ। परन्तु कहीं-कहीं मतगणना के आधार से इस प्रमाण को अप्रमाणिक ठहरा दिया, इसलिये कि उस पूर्णिमा के दिन सोमवार नहीं आता।

डा० हण्टर ने इंग्लिश के अन्दर कबीरजी का जन्म १३८० ई० (वि० सं० १४३६) में माना है। रूपकलाजी ने अपने भक्तमाल में एक तालिका दी है जिसके अन्दर कबीरजी का जन्म सम्वत् १४५१ सं० माना है। उस तालिका में आचार्य रामानन्द स्वामी के प्रधान द्वादश शिष्यों के नाम और जन्म सम्वत् हैं। वह तालिका उन्हें कहाँ से मिली इसका कोई उल्लेख नहीं है। किसी जगह १३५५ वि० सं० भी लिखा है परन्तु उपरोक्त सभी सम्वतों से और इस सम्वत् से बहुत बड़ा अन्तर हो जाता है। इस प्रकार अनेक विवाद हैं और सभी कुछ न कुछ आधार लिये हुए हैं ऐसी अवस्था में फिर भी गम्भीर खोज की आवश्यकता है।

महाराज कबीरजी के समझने के लिये दक्षिण भारत का इतिहास भी अधिक उपादेय होता है। 'प्रसंग पारिजातम्' में एक प्रकरण आया है जिसमें वेद भाष्यकार स्वामी विद्यारण्य मुनिजी ने आचार्य रामानन्दाचार्यजी की दक्षिण यात्रा में उनसे भेंट की थी। विद्यारण्य मुनिजी ने वेदों पर अपने भाष्य किये जो उपलब्ध हैं। कहते हैं कि उन्होंने दक्षिण भारत में बुक्काराय के द्वारा सन् १३६६ ई० में विजयानगरम् हिन्दू साम्राज्य की स्थापना की। जिस तरह छत्रपति शिवाजी के मस्तक पर समर्थ स्वामी रामदासजी का वरद हस्त था। १३५६ वि० सम्वत् से १४४७ वि० सं० तक विद्यारण्य भूतल पर विद्यमान रहे। आचार्य रामानन्दाचार्यजी की दक्षिण यात्रा में जब कि उनकी विद्यारण्यजी से भेंट हुई—कबीरजी महाराज भी उनकी सेवा में साथ थे। इसका विवरण 'प्रसंग पारिजातम्' की अष्टपदियों में आया है उनके कुछ उदाहरण हम यहाँ देते हैं।

मिसहा विजय नगरमउहा। किरदे मुची चाणी कुहा।
हकणोर दुग्गाधी मुहा। अकडेर दीपा सूजुहा ॥१॥

तपनेप विद्यारण्य धी । मठ हेम तण्णा रायजी ।
धुपजेरु जथुही सामही । चफछेट ऊँझा आसती ॥२॥

(अ० ८८, प्र० पारिजातम्)

रामेश्वर की यात्रा करके आचार्य भगवान् रामानन्दजी अपने शिष्य समूह के साथ विजयनगरम् लौटे। महाराज विजयनगर की ओर से स्वागत की बड़ी तैयारी थी। नगर अच्छी तरह सजाया गया था तथा एक रमणीक उद्यान में जमात के टिकने का प्रबन्ध हुआ था। वहाँ एक सुन्दर सरोवर भी था। महाराज बुक्कराय ने स्वामी विद्यारण्य मुनिजी को प्रमुख करके नंगे पैर चल कर नगर से बाहर ही स्वामीजी का स्वागत किया। पालकी में स्वामीजी को बैठाकर बड़ी श्रद्धा से अपना कन्धा लगाया। विजयनगरम् में आचार्य रामानन्द की बड़ी सेवा हुई, नरनारी दर्शन से कृतार्थ हुए और उसके बाद आचार्य का मुकाम काञ्चीपुरी को रवाना हो गया।

काँची सुफैयर पूरपी । पझणा सिणा झिस चूरपी ।
अमुताज हातिस यूरपी । छमु हासु पैरव कूरपी ॥१॥
दिघलास बैसम भागवत । रैदास चंतज चामवत ।
जमना कबीर पाटबत । हुविहा बुहाफी जासवत ॥२॥
झमरी अम्भरिभा जिपुनुहर। इखतम्र फचा जिष्णु कुहर ।
अलगी सतस होणा चुहर। उफईस कचु पागी बुहर ॥३॥

(अ० ८६ प्रसंग पारिजातम्)

आचार्य पाद स्वामी रामानन्दाचार्यजी जब काँची पहुँचे तब वहाँ के रहनेवाले ब्राह्मणों ने स्वामीजी का उदार भाव और समान बर्त्ताव जो उनके शिष्यों के प्रति था—की निन्दा करना प्रारम्भ कर दी। उन सब की खोपड़ी पर अहंकाररूपी ब्रह्म राक्षस चढ़ा हुआ

था। वे भागवत धर्म के महत्व को नहीं समझ सकते थे। रैदासजी को चमार और कबीरजी को मुसलमान कहकर घृणित शब्दों से उनका तिरस्कार करते थे। वे कुश को घास कहते थे और गऊ को पशु समझते थे। उन्होंने महापुरुषों के स्वागत और सत्कार को दूर फेंक दिया और दुर्वचन रूपी बाणों को फेंकना ही पुरुषार्थ समझ लिया। इस व्यवहार की परवाह आचार्य भगवान ने कुछ नहीं की और उनका सामना बड़ी शान्ति से किया। जब उन ब्राह्मणों ने अति कर दी तब उन्हें दण्ड मिला। पीपरजी की पत्नी भगवती श्रीसीता ने कबीरजी के अपमान को कानों से सुनकर काँचीपुरी के लोगों को शाप दे दिया। निन्दा करने वाली एक गोदा नाम की स्त्री सीता के उग्रशाप से जमीन फटी और उसमें समा गई उससे हाहाकार मच गया और सभी लोग भयभीत हो गये। उसके उपरान्त दुष्ट ब्राह्मणों ने घर-घर में कबीरजी का प्रभाव देखा। नीचे की अष्टपदी के चरण में उसका विवरण है।

संघं सुघण्टा टिपटिपा। चिमणारु तीणा हिपड़िपा।
भषऊष पिचणा धिपधिपा। अगरहि कबीरा चिपचिपा।७।

अपवान जाम्भिष साउसू। पादाप पाचिल पाउसू।
हपचा मुधा पुच लाउसू। पझ पटह वाचह थाउसू।८।

(आ० ९०, प्र० पारिजातम्)

भगवती पतिव्रता सीता जब शाप देकर मार्ग से जमात में लौटीं तब सबने उनके धर्मदण्ड का समर्थन किया। उसके बाद कांचीपुरी के हरएक ब्राह्मण के चौका में भोजन के समय कबीरजी खड़े हुए प्रगट दीखने लगे। लोग भोजन छोड़कर चौका से बाहर होने लगे। इस प्रकार दो दिन तक सभी लोग भूखे मरे और तब उनके अभिमान का भूत उनके सिर से उतरा। सभी दीन बनकर आचार्य भगवान् की शरण में आकर गिरे और क्षमा माँगी।

अजगाषु विद्यारण्य मुनि। तपलासु किमुटा काहुकुनि ।
लउ भाप टेकुवा टारट्टुन। वह बाल धामिन पाहपुनि ।१।

(अ० ६१, प्र० पारिजातम्)

उधर विद्यारण्य मुनिजी अपने शिष्यों और राजमंत्रियों के साथ 'काँची' आये और नगर के समाचार सुने। उस पर उन्हें बड़ा ही दुःख हुआ और उन्होंने लोगों की दुष्टता पर उन्हें बहुत फटकारा। वे आचार्य भगवान् से भी मिले और सती के शापानुग्रह की याचना की। इस ऐतिहासिक कथानक का यह तात्पर्य है कि विद्यारण्य मुनिजी जिस समय आचार्य पाद रामानन्द स्वामीजी से उनकी दक्षिण यात्रा में मिले उस समय वहाँ कबीरजी महाराज भी विद्यमान थे। 'विजयनगरम्' के हिन्दू राज्य की स्थापना १३६२ वि० सम्वत् में हुई और उसी के आस-पास आचार्य रामानन्द स्वामीजी दक्षिण यात्रा में निकले, उस समय कबीरजी भी उनके साथ थे। अनुमानतः वह यात्रा १४००, वि० सम्वत् में या उससे कुछ आगे-पीछे ही हुई होगी, तब तो कबीरजी का जन्म १४५५ वि० संवत् में मानकर उन्हें विद्यारण्य मुनि के सामने कैसे लाया जा सकता है। आचार्य की वह यात्रा कितनी भी नीचे उतारी जाय तो भी १४५५ वि० संवत् में कबीरजी का जन्म मानने से उनका और विद्यारण्यजी का मेल नहीं ही होता क्योंकि विद्यारण्य मुनिजी १४४७ वि० सम्वत् में ही परमधाम वास कर गये हैं। अतः हम १४५५ वि० कबीरजी का जन्म सम्वत् नहीं मान सकते।

महाराष्ट्र देश का सन्त इतिहास भी कबीरजी की ऐतिहासिक जानकारी में अधिक उपादेय है। लोक प्रसिद्ध सन्त ज्ञानेश्वरजी का जन्म १३३२, वि० सम्वत् में हुआ है। उनके पिता 'विट्ठल-पन्तजी' १३१८, वि० सम्वत् के लगभग काशी जाकर आचार्य श्री रामानन्द स्वामीजी के विरक्त शिष्य हो गये हैं। उस समय कबीर जी महाराज आचार्य रामानन्द की सेवा में विद्यमान थे इस बात

का वहाँ प्रमाण मिलता है। ज्ञानेश्वरी गीता की भूमिका में वैसा विवरण हो चुका है। ज्ञानेश्वरी गीता के गुजराती अनुवाद का उदाहरण नीचे देते हैं :—

'प्रयाग माँ स्नान करी विठ्ठलपन्थ काशी गया, अने त्यां ते मणे रामानन्द स्वामी नामना महात्मानो अनुग्रह कर्यो। तेमनो वैराग्य जोई स्वामीजीए तेमने मन्त्र दीक्षा आपी। सन्यास (वैराग्य) ग्रहण करायो। (श्री) रामानन्द स्वामी ते बखते काशी माँ प्रख्यात हता, अने तेमना सैकड़ों शिष्य हता, एम कहे वाय छे के कबीर पण एमनाज शिष्य हता'।

यह उद्धरण ज्ञानेश्वरी गीता की भूमिका से लिया है। इसका एक लम्बा इतिहास है परन्तु हमने यहाँ आवश्यक अंश ही लिया है।

'विठ्ठलपन्थ' अपनी पत्नी और श्वसुर से आज्ञा माँग कर प्रयाग में गंगा स्नान करने आये और वहाँ स्नान करके वे काशीपुरी चले गये। काशी में आचार्य रामानन्द स्वामी के उन्होंने दर्शन किया और उन्हीं की सेवा में निवास भी किया। स्वामीजी ने उन्हें वैराग्य युक्त सत्पात्र समझकर मंत्रोपदेश किया। विठ्ठलपन्थजी वैष्णव धर्मानुसार आचार्य रामानन्द स्वामी के विरक्त शिष्य हो गये।

आचार्य रामानन्द स्वामीजी उस समय काशी के बहुत ही प्रसिद्ध महापुरुष थे। उनके सैकड़ों शिष्य थे और यह भी लोक में ख्याति थी कि कबीरजी उन्हीं के प्रधान शिष्यों में से थे।

'प्रसंग पारिजातम्' में भी विठ्ठलपन्थ का विषय आया है। निम्नलिखित अष्टपदी उसका प्रमाण है—

दिक्कण दुसाकिण तावही। विट्ठल विहोंषिल लावही।
गुज गेंछु गुस्सट पावही। अजुनाभ चिउमा सावही॥१॥
तणपुर हुसाइप धावले। कुहलोप चाभुस गावले।
जोषित जुपोसत सावले। किंधी किबौरी जावले॥२॥

अथहूण तिकता गमिषमो । लचनारडूहा समिपमो ।
ध्यातं खुबा जिउजमिषमी । लोलपण चौधा घमिषमी ।।३।।
होपिस भिलिन्दी जनकपिच । तभुगौहनुतफाझा वलिच ।
वभ जोसड़ा विनजाभ किच । गपटाङ्ग औका नाटरिच।।४।।
अबरुं वहाँ डिबहूँ जहा । खवि सेप बुतड़ा संमहा ।
कसराफ भावानन्दहा । जस्तोस तोवा पेवहा ।।५।।
थाकित खिजानिप सन्तति । टहूणे थणेसा दंपती ।
रुकथूं लिवातूं संपती । वझबाल ओणा मंरती ।।६।।
भइजं उजंणो तीकमां । कवले कुचेछा छीकमां ।
तरसिहु जिसद्दा लीकमां । चरसस निकैता पीकमां।।७।।
कैजाँ पुजाँ झाँ भादरी । उभसार अतसी छादरी ।
पहूजे सुपाणी सादरी । हुफता घुमाढ़र दादरी ।।८।।

(अष्टपदी ८२ प्र० पारिजातम्)

दक्षिण देश के एक विठ्ठल पंथ नामक ब्राह्मण यहाँ (काशी) आये। वे स्वभाव से ही विरक्त थे। उनके मन में कोई भी वासना स्थान नहीं पाती थी। अपने आचरण और सत्कार्य से वे लोक में प्रसिद्ध थे। उनकी धर्मपत्नी (बड़ी ही) सरलहृदया सती थी। वह ही पति की सेवा में लगी रहती थी। उसने भूलकर भी किसी पर पुरुष की ओर नहीं देखा था। पति के चरण की पूजा ही उसका धर्म था। उस पत्नी को छोड़कर विठ्ठलपन्थजी ब्रह्मदीक्षा के लिए काशी आये। अग्नि की तरह वैराग्य भी अवसर अनवसर का विचार नहीं करता, वह अपना कार्य कर डालता है। आचार्य भगवान् रामानन्द स्वामीजी ने अपनी शरण में आये हुए विठ्ठलपन्थ को दीक्षा देने के योग्य समझा। विठ्ठलपन्थजी जनकजी के अंश से अपत्य शाप द्वारा अवतरित हुए हैं इस बात को स्वामीजी जानते

थे, अतः उन्होंने उन्हें महान् भक्त समझ कर उपदेश दिया और उनका नाम भावानन्दजी रखा। भावानन्द नाम उनकी भावपूर्ण वृत्ति होनें के कारण भी रखा गया। काल पाकर भावानन्दजी की पत्नी काशी आई और आश्रम पर स्वामीजी के चरणों में उपस्थित हुई। वे पहले ही स्वामी जी की दक्षिण यात्रा में पुत्रवती होने का आशीर्वाद प्राप्त कर चुकी थीं। इसी कारण स्वामीजी ने अपने वचन की रक्षा के लिए भावानन्द को बुलाकर उन्हें उसे सौंप दिया। स्वामीजी ने भावानन्दजी को समझाया कि वरदान होने के कारण दिव्य सन्तानोत्पत्ति होगी और विरक्त आश्रम से पुनः गृहस्थ आश्रम में जाने का उन्हें दोष भी नहीं लगेगा। गुरुदेव की आज्ञा पालन करना उन्होंने परम धर्म समझा इसीलिए वे पत्नी के साथ जाने को तय्यार हो गये। वे स्वामीजी के चरणों में अधीर होकर गिर पड़े, स्वामीजी ने उन्हें उठाकर हृदय से लगा लिया और विदा कर दिया। विठ्ठलपन्थजी घर लौट आये और शान्ति से पत्नी के साथ रहने लगे। आगे चलकर १३३२ वि० सम्वत् में विश्वविख्यात ज्ञानेश्वरजी का उनसे जन्म हुआ। यह अष्टपदी का अर्थ है और दक्षिण के इतिहास से अक्षरशः मिलता है।

उपरोक्त प्रसंगों से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि विठ्ठलपंथजी आचार्य पाद रामानन्द स्वामीजी के शिष्य थे और जिस समय वे शिष्य हुए उस समय कबीरजी स्वामीजी की सेवा में प्रख्यात हो चुके थे। विठ्ठलपंथजी के शिष्य होने का काल १३१८, वि० सम्वत् के आस-पास कहा गया है। वे स्वामीजी की सेवा में केवल बारह वर्ष ही रहे थे ऐसा इतिहासों में आया है। १३३२ वि० सम्वत् में ज्ञानेश्वरजी का जन्म और १३३०, वि० सम्वत् में उनके बड़े भाई निवृत्तिनाथजी का जन्म हुआ। इस हिसाब से विठ्ठलपंथजी का शिष्यत्व ग्रहण काल १३१८, वि० सम्वत् ही हो सकता है। यदि विठ्ठलपंथजी १३१८, वि० सम्वत् के लगभग स्वामी रामानन्दजी

के शिष्य हुए हों तो कबीरजी का जन्म उससे तो बहुत ही पूर्व माना जायेगा क्योंकि वे उस समय स्वामीजी के शिष्यों में ख्याति प्राप्त कर चुके थे। अनुमानतः हम उनका प्रादुर्भाव वि० की तेरहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में किसी समय भी मान सकते हैं। ऐसा मान लेने से दक्षिण के सभी इतिहासों का मेल हो जाता है, परन्तु इस मन्तव्य से कबीरजी का जीवन काल बहुत लम्बा मानना पड़ेगा। बादशाह सिकन्दर लोदी के समय तक तो उन्हें अवश्य ही भूतल पर रखना पड़ेगा क्योंकि उस समय तक उनके जीवित रहने के प्रबल ऐतिहासिक प्रमाण हैं। यथा —

'साह सिकन्दर जल में बोरे बहुरि अगिनि पर जारे, ।
मैमत हाथी आनि झुकाये सिंह रूप दिखराये ।।'

(धर्मदास)

भक्तमाल की टीका में महात्मा प्रियादासजी ने भी इसका वर्णन किया है।

'बाँधि के जंजीर गंगा तीर माँहि बोरि दियो,
जिये तीर ठाढ़े कहै जंत्र मंत्र आबही ।
लकरीन माँझ डारि अगिनी पजारि दई नई मानौ
भई देह कंचन लजावही ।
विफल उपाय भये तऊ नहि आये नये तब मतवारो
हाथी आनि के झुकावही ।
आवत न ढिंग औंर चिंघार हारि भाजि जाय,
आप आगे सिंह रूप बैठे सो भजावही ।

बादशाह सिकन्दर ने कबीरजी को जंजीरों में बाँध कर गंगा में फिकवाया और जब नहीं डूबे तब जलती आग में डलवाया तब भी नहीं जले तब खूनी हाथी के सामने फिकवाया। हाथी ने कबीर

जी को सिंह के रूप में देखा और चिंघार मार कर वह भाग गया। कबीरजी की यह बड़ी करामत देखकर बादशाह चरणों में गिरा और क्षमा माँगी। सिकन्दर जब आगरे से काशी आया था उस समय काशी के ब्राह्मणों ने कबीरजी की शिकायत की उस पर उसने कबीरजी को बुलाया। वे बादशाह के सामने पहुँचे। आते ही काजी ने कहा बादशाह को सलाम करो। उत्तर मिला 'हम राम को छोड़कर किसी को सिर नहीं झुकाते हैं।' इस पर बादशाह नाराज हुआ और कबीरजी को कष्ट दिया। राम के प्यारे भक्त का कुछ नहीं बिगड़ा स्वयं ही वह परास्त हुआ।

सिकन्दर लोदी का काल १५६५ वि० सम्वत् १५७४ वि० सम्वत् तक है उसी के बीच में कबीरजी का मिलना सिकन्दर से हुआ है। पिछले विवरण से और इस विवरण से कबीरजी भूतल पर २५० वर्ष तक विद्यमान रहते हैं, परन्तु मनुष्य लोक में इतना लम्बा जीवन इस समय लोगों की दृष्टि में स्वीकार होना थोड़ा कठिन सा दीखता है। साधारण तौर से संसारी लोग यही समझते हैं कि १०० वर्ष से ऊपर बहुत कम लोग जीते हैं और यदि जीते भी हैं तो दस बीस वर्ष ऊपर ही कठिनाई से जीते हैं। ऐसे विचार संसारियों के सम्बन्ध में संसारियों के प्रायः हो सकते हैं किन्तु महात्माओं के सम्बन्ध में नहीं हो सकते, इसलिये कि वे अपने योगबल से इच्छानुसार जब तक चाहें जी सकते हैं। शास्त्रों ने उसका समर्थन किया है और लोक में भी इसके लिये बहुत से उदाहरण हैं। इस पर नीचे कुछ प्रमाण दिये जाते हैं।

पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते
पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते।
न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः,
प्राप्तस्य योगाग्नि मयं शरीरम्।
(अ० २ श्वेताश्वतरोपनिषत्)

जिसने योग विद्या की महान् साधना से पृथ्वी, जल अग्नि, और आकाश को प्रत्यक्ष करके उन्हीं पंच महाभूतों पर अधिकार कर लिया है अर्थात् जिसने इन पंच तत्वों से बने हुए शरीर को योगाभ्यास की अग्नि से शुद्ध करके पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश को क्रमशः जीत लिया है और अपना योगाग्निमय शरीर बना लिया है उसे रोग, वृद्धावस्था तथा मृत्यु का भय नहीं रहता।

खाद्यते नच कालेन बाध्यते नच कर्मणा
साध्यते न सके नापि योगी युक्तः समाधिना।

(हठयोग प्रदीपिका)

जो योगी योग की महान् साधना के द्वारा प्राणों को जीत कर समाधि को प्राप्त हो चुका है उसे काल नहीं खा सकता अर्थात् उसे मृत्यु का भय नहीं रहता' उसके सभी कर्म बन्धन टूट जाते हैं तथा वह किसी भी तन्त्र मन्त्रादि से साध्य नहीं रहता स्वयं सर्व स्वतन्त्र हो जाता है।

महान् योगेश्वर एकनाथजी ने मराठी भाषा में इसी का समर्थन किया है।

'प्राण वायुचें धारण तेंचि स्वच्छन्द मत्युचें लक्षण'

जिस योगी ने प्राणायाम के द्वारा प्राण वायु को धारण करने की सामर्थ्य प्राप्त की है उसकी मृत्यु स्वच्छन्द होती है अर्थात् वह जब तक चाहे जीवित रह सकता है जब चाहे शरीर छोड़ सकता है।

योग सम्बन्धी ग्रन्थों में अधिक काल तक जीवित रहने के अनेकों प्रमाण मिलते हैं। लोक में भी हजारों सन्त महात्मा अपने योगबल से दीर्घ काल तक जीवित रहे हैं ऐसे उदाहरण मिलते हैं। काशी के तैलंग स्वामीजी तीन सौ वर्षों तक जीवित रहे। उन्होंने —पता लगाने से मालूम हुआ है—१८८० ई० के दिसम्बर महीने में काशी में समाधि ली है। उनके शिष्य और शिष्याएँ अभी तक

जीवित हैं। न्यूयार्क से प्रकाशित होने वाली एक पुस्तक में तथा भारत में प्रकाशित होने वाली अनेक पुस्तकों में उनका परिचय छपा है।

निम्नलिखित कुछ उदाहरण हैं—

'Auto biography of a yogi'

Published by the philosophical Library.

15 East 40 Streat, Newyork. N. Y.

Swami tailanga, who was reputed to be over three hundred years old. The two yogis after set together in meditation. Tailanga's fama is widespread that few Hindus would deny the possibility of truth in any story of his astounding miracles. If Christ returned to earth and walked the street of New York displaying his divine powers, it would cause the same excitement that was created by Tailanga decades ago as he passed through the crowded lanes of Benares.

'एक योगी की आत्मकथा' नामक इंग्लिश पुस्तक का यह उद्धरण है। इसका यह सारांश है कि "स्वामी तैलंगजी तीन सौ वर्ष से ऊपर जीवित रहे उसके बाद वे समाधिस्थ हुए। उनकी प्रसिद्धि दूर-दूर तक फैली हुई थी। उसके आश्चर्यजनक चमत्कारों की सत्यता पर सभी हिन्दू विश्वास करते थे। उनके आदर और सत्कार में लोगों की बड़ी श्रद्धा रहती थी। यदि कहीं अपने स्वर्गीय तेज के साथ ईसामसीह भूतल पर उतरते और न्यूयार्क की सड़कों पर टहलते उस समय उनके दर्शन को जितनी उत्सुकता से भीड़ें उमड़तीं ठीक उसी तरह स्वामी तैलंग के दर्शन को भीड़ें उमड़ा करती थीं जब कि वे काशी की गलियों में निकलते थे।"

कहते हैं कि सन् १८८० ई० के दिसम्बर महीने में काशी के अन्दर तैलंग स्वामीजी का परमधाम हुआ।

गोरखपुर के कल्याण 'सन्त अङ्क' में भी उनका विवरण छपा है' "प्राय: पचास वर्ष पूर्व काशी में तैलंग स्वामी नामक एक बहुत प्रसिद्ध महात्मा हो गये हैं। आप एक परम सिद्ध योगी जीवन मुक्त पुरुष थे। सदा दिगम्बर वेष में रहा करते थे। ये भूत भविष्य-वर्तमान की बातें जानते थे और किसी के आने पर बिना कुछ कहे उसके मन के प्रश्न का उत्तर दे देते थे। जल, थल, मान अपमान, शीत-उष्ण, सब आपके लिए समान था। ये सदा पर दु:ख कातर रहा करते थे, मान, प्रसिद्धि और ख्याति से बहुत दूर भागते थे। जल पर पद्मासन लगाना, गंगाजी में तीन-तीन दिन तक लगातार डूबे रहना, समाधी लगाकर दूर का समाचार जान लेना, आकाश में निराधार स्थित रहना इत्यादि बातें उनके लिये बहुत साधारण थीं। २८० वर्ष की अवस्था में आपने समाधी ली थी'।

(सन्त अङ्क गोरखपुर)

यह स्वामी तैलंगजी के दीर्घकाल तक जीवित रहने के उदाहरण हैं। स्वामी तैलंगजो का उदाहरण हमने इसलिये दिया है कि लोगों को यह समझ में आ जाय कि योगीजन अपने योगबल से जब तक चाहें जीवित रह सकते हैं। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है योग विद्या की ऐसी ही महिमा है। कबीरजी महाराज महान् योगेश्वर थे। उनमें ईश्वरी तेज था और वे संसार में महान् कार्य करनें को आये थे। उनकी जब तक भूतल पर आवश्यकता रही तब तक वे जीवित रहे। उनके दीर्घ जीवन के सम्बन्ध में शंका लाना निरर्थक है। नाभाजी ने अपने भक्तमाल में आचार्य रामानन्द तथा उनके द्वादश प्रधान शिष्यों को बहुत लम्बे काल तक जीवित रहने को लिखा है। कबीरजी का नाम भी वहां आया।

श्रीरामानन्द रघुनाथ ज्यों दुतिय सेतु जग तरन कियो।
अनन्ता नन्द, कबीर, सुखा, सुर सुरा, पद्मावति नरहरि।
पीपा, भावानन्द, रैदास, धना, सैन, सुरसुर की घर हरि।
औरौं शिष्य अनेक एकते एक उजागर।
विश्वमंगल आधार भक्ति दशधा के आगर।
बहुत काल वपु धारि के प्रणत जनन को पार दिये।
श्रीरामानन्द रघुनाथ ज्यों दुतिय सेतु जग तरन कियो।

(भक्तमाल छप्पय ३७)

नाभाजी कहते हैं कि रामावतार में रघुनाथजी ने जैसे लंका जाने के लिए समुद्र का सेतु बाँधा उसी प्रकार रामानन्द स्वामीजी अवतार काल में संसारी जीवों को भवसागर से पार ले जाने के लिए भक्ति का सुदृढ़ पुल बाँधा। इस भक्ति के सुदृढ़ पुल के रक्षक स्वामीजी के अनेकों प्रतापी शिष्य थे परन्तु उनमें से द्वादश मुख्य थे। अनन्तानन्दजी, कबीरजी, सुखानन्दजी, सुरसुरानन्दजी, पद्मावतीजी, नरहरियानन्दजी, पीपाजी, भावानन्दजी, रैदासजी, धनाजी, सैनाजी, सुरसुरानन्दजी की पत्नी इत्यादि ये सब महानुभाव दस प्रकार की भक्ति के निधान ही थे। इन सबने लम्बे काल तक पृथ्वी पर शरीर धारण करके संसारी भक्तजनों को भक्ति के उस दृढ़ पुल से पार किया। आशय यह है कि इन सब महापुरुषों ने लोक में रामानन्दी पद्धति के अनुसार रामभक्ति का लम्बे काल तक प्रचार किया। 'बहुत काल वपुधारि के' का आशय सैकड़ों वर्षों तक जीवित रहना है। इस प्रकार नाभाजी के कथनानुसार भी कबीरजी ढाई शताब्दी के लगभग या और कुछ उसके ऊपर जीवित रहे, यही स्वीकार किया जा सकता है।

कबीरजी का रामानन्दजी की शरण में जाना

महाराज कबीरजी के जीवन चरित्र में उनके बाल्यकाल का प्रसंग जिसमें वे आचार्य रामानन्द की शरण में गये—बहुत ही आकर्षक और हृदयस्पर्शी है। कहते हैं कि जब वे थोड़े से खड़े होने अथवा शब्द उच्चारण करने के योग्य हुए तब उनके मुख से श्रीराम का पवित्र नाम निकला था। बच्चों के प्रथम जो तोतले शब्द स्वाभाविक ही किसी की ध्वनि को लेकर निकलते हैं कबीरजी के वे शब्द राम राम का ध्वनि में थे। ज्यों-ज्यों कबीरजी बढ़ते गये उनका हृदय बीज रूप शब्द ब्रह्म के रामरंग में रँगता गया। प्रेम के मधुर रस का स्थान हृदय होता है उसमें मधुर रामरस का स्वाभाविक संचार होने लगा। वे उसे अकेले में बैठकर घंटों पान करते थे। राम नाम में क्या स्वाद था उसका अनुभव उन्हें ही हुआ था। उनके हृदय का रंग इतना पक्का था कि उस पर संसार का कोई दूसरा रंग ही नहीं चढ़ा। माता पिता जुलाहे थे उन्होंने अपने धार्मिक ढाँचे में ढालने के लिये अवश्य ही प्रयास किया होगा परन्तु बालक कबीर पर उनका कोई भी प्रभाव नहीं पड़ा। विश्वव्यापिका प्रकृति ने उनके हृदय में उस विशुद्ध प्रेम भक्ति का बीज बोया था जो अमर था। संसार उसके अंकुर को नहीं उखाड़ सकता था। पुराणों में भक्तवर बालक प्रह्लाद की हृदयस्पर्शी कथा लिखी गई है। लोगों को वह इतनी प्यारी लगी है कि युगों के बाद भी आज तक वे उसे नहीं भूलते। कबीरजी की भी कथा बहुत अंश में वैसी ही थी। मुल्ला मोलवियों ने भी बालक कबीर को अपने रंग में लाने का कम यत्न नहीं किया होगा परन्तु वे असफल ही रहे। अभी इस्लामधर्म के घर में पाले जाने पर भी

इस्लाम उन्हें नहीं छू सका। कबीरजी प्रतिदिन राम के लिये बेचैन रहने लगे थे और वह बेचैनी इतनी बढ़ी थी कि उसने उनका आगे का महान् पथ निर्माण करके उन्हें उस पर खड़ा कर दिया था। भक्तमाल की टीका करते समय कबीरजी के प्रसंग में उनका निम्नलिखित चित्र प्रियदासजी ने खींचा है।

"अतिही गंभीर मति सरल कबीर हियो लियो,
भक्ति भाव जाति पाँति सब टारियो।
भई नभ बानी देह तिलक रमानी करो,
करौ गुरु रामानन्द गले माल धारिये॥
"देखें नहि मुख मेरो मानिके म्लेक्षमोको।
जातगंगा न्हान कही भगतन डारिये॥
रजनी के शेष में आवेश को चलत आप।
परे पग राम कहें मन्त्र सो विचारिये॥"

कबीरजी बालक थे परन्तु बड़े ही गंभीर थे। उनका सरल हृदय भक्ति रस की तरंगों में डूब गया था। उन्हें जाति पाँति का कुछ भी ज्ञान नहीं था। संसार उन्हें जुलाहा, मुसलमान तथा म्लेच्छ आदि नामों से सम्बोधित करता होगा परन्तु यह सब सुनने के लिए उनके कान नहीं थे इसलिए कि वे ऐसे रंग में उन्मत्त हो चुके थे जिसमें कुछ भी सुनाई नहीं देता था। यह एक आश्चर्य-जनक वृत्तान्त है कि काशी नगरी के अन्दर एक म्लेच्छ घर के अबोध बालक ने उस स्वर्गीय नाद को कैसे पाया ? उसके हृदय में उस स्वर्गङ्गा का अमृत किसने उड़ेला ? मनुष्य यह सब कुछ नहीं जानता। उसका पथप्रदर्शन उस समय स्वर्गीय विभूतियाँ करती थीं। बालक कबीर एकान्त में ऐसे अधीर होने लगे थे कि मानो उनकी कोई प्यारी वस्तु उन्हें नहीं मिलती हो ? विशुद्ध हृदय के प्रेम की पराकाष्ठा पर बहुत से स्वर्गीय अनुभव हुआ करते हैं। कबीर

के हृदय को भी मधुर रस से सींचती हुई आकाशवाणी हुई—"कबीर ! तुम रामानन्द स्वामीजी की शरण में जाओ और उन्हें अपना गुरु बनाओ। गले में उनकी दी हुई तुलसी की माला पहनो और माथे पर चन्दन का रामानन्दी तिलक लगाओ, तब तुम्हें शान्ति मिलेगी।' कबीरजी आकाशवाणी से पूछते हैं—"मैं उन्हें कैसे गुरू बनाऊँ वे मुझे म्लेछ समझकर देखना भी पसन्द नहीं करेंगे।" पुनः आकाशवाणी उन्हें उसका यत्न बताती है—"आचार्य रामानन्दजी अवशेष रात्रि की ब्रह्मबेला में गंगास्नान को निकलते हैं तुम वहीं उनके मार्ग में पड़ जाना। उनका पवित्र चरण तुम्हें स्पर्श करेगा उस समय वे तुम्हें करुणाद्र होकर रामराम सुनायेंगे तुम उसे ही मंत्रोपदेश समझना।" कबीरजी ने वैसा ही किया। काशी उस समय पवित्र वन के रूप में थी। पंचगंगा घाट पर जहाँ भगवान् रामानन्द स्वामी निवास करते थे एक निर्जन स्थान था। कबीरजी पंचगंगा घाट की सीढ़ियों पर सुनसान रात में जा पड़ते हैं। उन्हें छोटी सी अवस्था में ऐसा करते हुए भय नही हुआ क्या? ओह ! वे स्वर्गीय आत्मा थे, उनके ऐसे ही चरित्र तो मानवेतर हो सकते हैं। आचार्य रामानन्द स्वामी अपनी गुहा से अपने स्वरूप के आवेश में बाहर निकलकर स्नान के लिए नीचे उतरे। बालक कबीर पर उनका पावन चरण पड़ा और उससे एक दुखभरी रुदन की ध्वनि हो उठी। वह कबीर के मुख से निकली थी। आचार्य भगवान् तुरन्त सम्हल गये और कबीर के मस्तक पर कृपा का हाथ रख दिया। "राम राम कहो बच्चा राम राम कहो" इस महामंत्र का उच्चारण किया। कबीर ने उस महामंत्र को विश्ववन्द्य रामानन्द स्वामी के मुख से सुना और कृतार्थ हो गये। वे चुप हो गये, उनके हृदय में राम नाम की ज्योति जग गई और उससे उन्हें परम शान्ति मिली।

ब्रह्मबेला के वे क्षण आनन्द से भरे हुए बड़े वेग के साथ चले गये। ऊषा की सुनहरी किरणें दूसरा आनन्द बरसाती हुई भूतल

पर उतरीं। कबीरजी के लिए वह एक आनन्द का युग था। कबीर भी अब नये कबीर थे। वह अब अपने को वैदिक धर्म के महान् आचार्य रामानन्द स्वामी का शिष्य मानने लगे थे। उनके गले में तुलसी की माला थी और मस्तक पर रामानन्दी तिलक था। इसी रूप में वे अपने घर गये। माता देखकर चिल्ला पड़ी और पूछने लगी 'अरे यह कहाँ से पाया ?" उत्तर मिला "आचार्य रामानन्द स्वामी से"। सम्पूर्ण काशी नगरी में हलचल मच गई। स्वामी रामानन्दजी महाराज के पास भी यह खबर पहुँची कि उन्होंने जुलाहा कबीर को शिष्य बनाया है। कबीर को उसी समय आचार्य की सेवा में बुलाया गया और शिष्य बनने के सम्बन्ध में उससे पूछा गया। कबीर ने रात का वह सारा वृत्तान्त कह सुनाया जिसमें आचार्य ने उसके मस्तक पर अपना हाथ फेरा था और श्रीराम नाम जपने का आदेश भी दिया। आचार्य ने गुफा के भीतर से कबीर की सारी बातें सुनी और स्मरण किया कि यह वही बालक है जिस पर वे दया कर चुके हैं। गुफा का पट खुला और आचार्य बाहर आये। कबीर चरणों में गिर गये। दयालु पतित पावन भगवान् ने उन्हें उठाकर हृदय से लगा लिया और घोषणा की कि "हाँ कबीर मेरा ही शिष्य है।"

काशी के विद्वानों में भी एक नई चर्चा फैल रही थी और वह भी एक उसी मुसलमान बालक की शुद्धि की। पण्डित लोग कहते थे कि बड़ा ही अनर्थ हुआ जगद्गुरु रामानन्द स्वामी ने जुलाहे के बालक को अपना शिष्य बना लिया। अब धर्म का नाश हुए बगैर नहीं रहेगा। वैष्णव धर्म के वैदिक मन्त्रों से कबीर का उन्होंने संस्कार किया है और वह अब बेधड़क श्रीमठ के प्रधान भगवान् श्रीरामजानकी के मन्दिर में दर्शन करता है और उन्हीं का प्रसाद भी लेता है। बहुत से लोगों ने तय किया कि सब कोई मिलकर स्वामीजी के आश्रम पर चलें स्वयं ही आचार्य पाद से इस बात को पूछें। ऐसा निर्णय करके पण्डितों का झुण्ड पंचगंगा की ओर चला।

आचार्यपीठ भारत के श्रीसम्प्रदाय की प्रधान पीठ थी और वह काशी में पंचगंगा घाट पर बड़े सुन्दर वन मे बनी हुई थी। प्राचीन लोग उस वन को आनन्दवन के नाम से पुकारते थे। उस समय वहाँआस-पास कोई बस्ती नहीं थी केवल वही पवित्र धाम रामानन्द पीठ क रूप में था। आचार्य रामानन्द स्वामी उसी मैं निवास करते थे और वे अपने युग के भगवान् माने जाते थे। उनके बड़े-बड़े प्रतिभाशाली शिष्य उनकी सेवा में वहीं निवास करते थे। कबीरजी को भी उसी आश्रम पर शिष्य बनने का सौभाग्य मिला था। ब्राह्मणों की उत्तेजित मण्डली उसी जगह पहुँच गई। निम्नलिखित अष्टपदी का अंश उसी विषय में है।

कुण-कुण कबीरा कापड़ो। रौरक जमाभे हापड़ो।
नैंकुण्ठि जूँठी धापड़ो। अब ही उहीसा तापड़ो ॥१॥
निचु खाण कोदा फातिवण। तचटा चुपैटा नातिण्ण।
हपटा जहैणा दिक तघण। उचई वगौरा जाति हण ॥२॥
मदसी मदीसो मुणिरधा। पहिटापिटा सिण तणिसधा।
जम्हुई झविरहा सणिपधा। उपहा पही गुस कणिपधा॥३॥

(पैशाची प्रसंग पारिजातम् ७२ अष्टपदी)

ब्राह्मणों ने पूछा, आचार्य ? कबीरा को आपने अपना शिष्य बनाया है ? उसे कण्ठी माला तथा वैष्णवी तिलक देकर वैदिक मन्त्र से दीक्षित किया है ? यदि ऐसा है तो बड़ा अनर्थ है। उसी समय आश्रम पर शंख की ध्वनि हुई। वह आचार्य भगवान् के द्वारा की गई। उसमें स्वर्गीय शान्ति थी। उत्तेजित ब्राह्मणों के कानों में वह पड़ी और उससे उन्हें हृदय में बड़ी शान्ति मिली। उनका द्वेष दूर हो गया और वे मौन होकर आचार्य के चरणों में बैठ गये। आचार्य भगवान् रामानन्द स्वामी ने बड़ी गम्भीरता में उत्तर दिया, ब्राह्मणों ? यह सत्य है, कबीर को मैंने अपना शिष्य बना

लिया है। भगवान् सबके हैं और भगवान् की शरण में जाने का सबको अधिकार प्राप्त है। भगवान की कृपा से कोई वञ्चित नहीं होता। भगवत्सम्बन्धी वैदिक सत्कारों से सबको दीक्षित किया जा सकता है। उससे कोई अनर्थ नहीं होता आचार्य ने कबीर के दिव्य जन्म का वृत्तान्त सबको सुनाया। उसे सुनकर सब कोई नतमस्तक हो गये। सबने स्वामीजी से क्षमा माँगी और अपने घर चले गये।

आचार्य रामानन्द स्वामी वस्तुतः युग के महापुरुष थे। उन्होंने कबीर को अपना शिष्य बनाकर प्राणिमात्र के लिये उदारता का द्वार खोला। धर्म की संकुचित शृंखलाएँ टूट गईं और उस समय सबको मानवता का समान अधिकार मिला। आचार्य रामानन्द स्वामी का यह पहला कार्य था जिसके द्वारा विनाश होने वाली हिन्दू जाति को बल मिला। ये पहिले धर्माचार्य थे जो बलात् म्लेच्छ बनाये हुए हिन्दुओं को शुद्ध करने के लिये खड़े हुए। कबीर को उन्होंने शुद्ध करके अपना शिष्य बना लिया और समानता के अधिकार उन्हें दे दिये। उनसे किसी तरह का अन्तर नहीं था। सभी शिष्यों के बीच में वे उसी तरह रहते थे जैसे किसी पिता के सभी पुत्र बिना भेद भाव के संकोच रहित एक जगह रहते हैं। कबीर ने स्वयं इस पर कहा है।

"सत गुरु के परताप से मिट गयो सब दुख द्वन्द।
कह कबीर दुविधा मिटी गुरु मिल्या रामानन्द ॥'

कबीर कहते हैं कि भाग्य से उन्हें रामानन्द स्वामी ने अपना शिष्य बना लिया है संसार भी इस बात को जान गया है कि कबीर को रामानन्द स्वामी गुरु प्राप्त हुए हैं उनके हृदय की बड़ी दुविधा दूर हो गई। वे सोचते थे कि आचार्य रामानन्द उन्हें अपनायेंगे कि नहीं अथवा वे राम के दरबार में पहुँचेंगे या नहीं, अथवा वे राम का नाम जपने योग्य हैं या नहीं हैं? ऐसी अनेकों दुविधायें समाप्त हो गई। इतना ही नहीं वे कहते हैं कि उनके महान

प्रताप से उनके सभी तरह क्लेश और सभी तरह के उपद्रव सदा के लिये विनष्ट हो गये। ये कबीरजी के हृदय के मार्मिक भाव हैं। इन्हें उन्होंने निजी गुरु शिष्य के सम्बन्ध में व्यक्त किया है।

कबीरजी ने बाल्यकाल से ही स्वामीजी की सेवा में रहकर पवित्र उपदेशों को सुना, दर्शनों के विवाद समझे और अपने निजी सिद्धान्त को जीवन पथ में स्वीकार किया। सिद्धान्त के सम्बन्ध में उनका ज्ञान पूर्ण था। उन्हें विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त का उपदेश मिला था इसलिये कि वही आचार्य रामानन्द का सिद्धान्त था। विशिष्टाद्वैत में ब्रह्मजीव माया तीन तत्त्वों को माना जाता है। ब्रह्म तत्त्व के वहाँ दो प्रकार के भेद या रूप स्वीकार होते हैं, वस्तुतः ब्रह्म एक ही होता है। सृष्टि और प्रलय के सम्बन्ध से ब्रह्म निर्गुण और सगुण नाम से व्यक्त किया जाता है। कबीरजी ने अपने उपदेशों में इसी सिद्धान्त को कहा है। इसे हम आगे चलकर विस्तृत रूप में कहेंगे। कबीरजी कोरे बकवादी ज्ञानी ही नहीं थे वे सिद्ध योगी भी थे। उन्होंने बाल्यकाल में अपने गुरु भगवान् से महान् योग विद्या की दीक्षा प्राप्त की थी और उसे कठिन साधनाओं के द्वारा सिद्ध भी किया था। कबीरजी ने पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाशादि पंचतत्त्वों पर विजय प्राप्त की थी। उनमें जो अलौकिक प्रतिभा संसार ने देखी थी वह योग बल की ही थी। जल उन्हें डुबा नहीं सका, अग्नि उन्हें जला नहीं सकी तथा कोई भी प्राणी उन्हें नष्ट नहीं कर सका यह उनके योगबल की ही शक्ति थी। उनके जीवन इतिहास में ऐसा बहुत बार हुआ है कि उन्होंने अपने योगबल का उपयोग किया है। इस सम्बन्ध में हम पहले सिकन्दर बादशाह के विवाद में कुछ लिख भी चुके हैं; कबीरजी महान् योगी थे और वे बाल्यकाल में ही अपने गुरु भगवान् की कृपा से वैसे हो गये थे। योग सम्बन्ध की चर्चाएँ भी उन्होंने अपनी लिखित पद्धतियों में अनेक जगह की हैं। इसके साथ-साथ उपासना काण्ड के भी वे महान्

भक्त माने गये हैं। भक्ति ही उनके जीवन का प्रधान अङ्ग है। योग और दर्शन ज्ञान गौण रूप से उनकी भक्ति के साथ हैं। इस प्रकार कबीरजी बाल्यकाल में ही इन सभी साधनों से सम्पन्न हो गये परन्तु यह सब उनके गुरु भगवान् की कृपा थी। कबीरजी वस्तुतः एक महान् विभूति थे और लोक के महान् कार्य के लिये ही वे संसार में आये थे। उनका जुलाहे के घर से युग के महान् आचार्य रामानन्द की शरण में जाना एक महान् कार्य का द्योतक है।

कबीरजी को रामोपासना का उपदेश मिला इसलिये कबीरजी राम के भक्त कहलाये। राम भक्तों का धर्म वैष्णव धर्म है अतः कबीरजी का भी वही धर्म हुआ। कबीरजी को वैष्णव धर्म बहुत ही प्रिय था, इसके सम्बन्ध में उन्होंने स्वयं ही बहुत से विचार प्रगट किये हैं। उन्हें भी हम आगे चलकर लिखेंगे।

उपासना के आधार पर कबीरजी के इष्टदेव राम हैं। उपासकों ने राम को साकार तथा निराकार विशिष्ट परात्पर ब्रह्म माना है। यहीं भावना राम के विषय में कबीरजी की भी है। कबीरजी राम को छोड़कर दूसरा कुछ नहीं मानते, इन विचारों को भी हम आगे चलकर लिखेंगे।

कबीरजी को संसार ने रामानन्द की शरण में आने के बाद ही सुना। कबीरजी जो कुछ भी हुए। इस प्रसंग में यह बहुत ही आवश्यक है कि उनके गुरुदेव आचार्य रामानन्द का भी साधारण तौर से सर्वांश में उल्लेख किया जाय। कबीरजी के साथ आचार्य रामानन्द के महान् चरित्रों को पढ़ने से भी लोगों को बड़ी सान्त्वना मिलेगी। इतिहासों में उनके सम्बन्ध में बहुत चर्चाएँ हुई हैं परन्तु उनमें उनका यथार्थ चित्रण नहीं हुआ है। यह भी एक धार्मिक इतिहास में बड़ी कमी है। इसे पूरा करने के लिये ही हम आगे रामानन्द स्वामीजी पर विवादपूर्ण विचार करेंगे। इति।

आचार्य रामानन्द स्वामी का परिचय

पिछली कई शताब्दियों के पहले भारत परतन्त्रता की शृङ्खलाओं में जकड़ गया था। उसके भीतर रहने वालों के जीवन दयनीय बन गये थे अत्याचारों की उस समय सीमा नहीं थी। बलात् धर्म परिवर्तन के लिये तलवारों का घाट बनाया गया था। दीन आत्माओं के हृदय की चीत्कार से आकाश गूँज गया था। प्रजा पुकारती थी परमात्मा आवे और उसके आँसू पोंछे। दीनबन्धु ने पुकार सुनी और स्वयं दयासागर राम रामानन्द के रूप में आये। अन्धकार में प्रकाश हुआ। धैर्य और विश्वास के लिये सान्त्वना मिली। अत्याचार रुके और दीनता दूर हुई। जैसी युग पुकार थी आचार्य रामानन्द वैसे ही महापुरुष थे। वे अपने प्रखर तेज को लेकर विश्व के सामने खड़े हुए और समय का निग्रह किये। उन्होंने अनुग्रहाशक्ति का भी उपयोग किया उससे मृतक वर्ग के जीवन में जान लौटी।

तीर्थराज प्रयाग में पवित्र कान्यकुब्ज वंश के महान् विद्वान् महात्मा पुण्यसदनजी के घर माता सुशीला देवी से भगवान रामानन्दजी महाराज का जन्म हुआ। इस अवतार की चर्चा प्राचीन शास्त्रों में भी हुई और युग के इतिहासों में तो वृहद्रूप से हुई ही है।

व्यतीते द्वापरे पुण्ये श्री 'मद्भगवतो झिते,
कलौ सत्व हरे पुंसां 'प्रवृत्तेऽधर्मं वर्द्धके।
जनेऽधर्म रुचौ नित्यं सौचाचारवि वर्जिते,
मोक्षसाधन मार्गेभ्यो विमुखे पशुतां गते।

मन्दे मन्द मतौ शश्वदल्प भाग्येऽल्प जीवने,
तद्वत्ये पाप निरते महत्संग विवर्जिते ।
प्रवर्धमानानभितो वार्दैर्निर्जित्य नास्तिकान्,
आचार्यैर्भगवद्धर्मो वेद वेदान्त पारगैः ।
स्थापितोऽपिमहायोगैर्वृद्धि नैव गमिष्यति,
विधातुं सत्यमनघ सुरेड्यो निज भाषितम् ।
वीक्ष्य विष्णुः कृपा सिन्धुः प्रबुद्धं तादृशं कलिम्,
सदृशांश्च जनान् सर्वान् दुरतीन् क्लेश संयुतान् ।
मनः कर्त्ताऽवताराय स्मृत्वाथो स्वं प्रति श्रुतम्,
खं नभो वेद वेद प्रमिते वर्षे गते कलौ ।
कालिन्दी जाह्नवी संगे शोभिते देव पूजिते,
तीर्थ राजे महापुण्ये प्रयागे तीर्थ उत्तमे ।
गृहे श्रीपुण्यसदन द्विजातेभूरि कर्मणः,
योगिनो योगयुक्तस्य कान्यकुब्ज शिरोमणेः ।
पतिसेवा परा तस्य सुशीला गृहिणी ततः,
माघ कृष्णस्य सप्तम्यां शुभ धर्म प्रवर्तके ।
सप्तदण्डे गते सूर्ये सिद्ध योग युजि प्रभुः,
नक्षत्रे त्वष्ट्र दैवत्ये कुम्भलग्ने शुभ ग्रहे ।
एवं सर्व गुणोपेते देशे काले च माधवः,
गुण्ये पुण्ये शरण्यः स शरणागत वत्सलः ।
आविर्भूतो महायोगी द्वितीय इव भास्करः,
रामानन्द इति ख्यातो लोकोद्धरण कारणः ।

(अगस्तसंहिता भविष्य खण्डे रामानन्द जन्म कथा)

अगस्तसंहिता के भविष्य खण्ड में, अगस्त सुतीक्षण का सम्वाद आचार्य रामानन्द स्वामी के जन्म पर हुआ है। उसी के उपरोक्त उद्धरण का यह आशय है।

"द्वापर के अन्त में जब भगवान् श्री कृष्णचन्द्र इस पृथ्वी को छोड़ देंगे उसी समय कलियुग का प्रथम चरण लग जायेगा। उस समय सभी मनुष्य सत्वहीन, विचारहीन और अल्पजीवी होंगे। सबकी बुद्धि पापमयी होगी। उस समय अनेकों धर्माचार्य उत्पन्न होंगे और वे मनुष्यों को सन्मार्ग पर लाने का प्रयत्न करेंगे परन्तु फिर भी मनुष्यों का दुख दूर नहीं होगा। वैसी अवस्था में भगवान् सर्वेश्वर राम स्वयं ही अवतार लेने की इच्छा करेंगे। विष्णु शब्द से राम लिया है।

चार हजार वर्षों से कुछ अधिक व्यतीत होने पर परम पवित्र तीर्थराज प्रयाग में महात्मा श्री पुण्यसदनजी के घर पतिपरायणा माता सुशीला के उदर से स्वयं परात्पर भगवान् जन्म लेंगे।

उस दिन माघ कृष्ण पक्ष की सप्तमी तिथि होगी और सप्तदण्ड सूर्योदय होगा। सिद्ध योग, चित्रानक्षत्र, कुम्भ लग्न तथा और सभी मंगलमय शुभ ग्रह भी उनके जन्म के समय लगेंगे। उस पवित्र अवसर पर दूसरे सूर्य के समान रामानन्द का प्रादुर्भाव होगा।

इसी प्रकार वैश्वानर संहिता में भी लिखा है—

माघे च कृष्ण सप्तम्यां चित्रानक्षत्र संयुते
कुम्भलग्ने सिद्ध योगे सुसप्त दण्डगे रवौ,
रामानन्दः स्वयं रामः प्रादुर्भूतो महीतले।

(वै० संहिता)

अर्थ पूर्व के अनुसार स्पष्ट है।

भविष्यपुराण के चतुर्थ खण्ड सप्तमाध्याय में रामानन्द स्वामी

का अवतार सूर्य के अंश से देवल नाम के ब्राह्मण के घर लिखा है। विद्वानों ने इसे कल्पान्त भेद से माना है।

प्राचीन शास्त्रों के आधार पर रामानन्द स्वामी को भगवान् का अवतार माना है। पाठ में कहीं विष्णु का, कहीं राम का तो कहीं सूर्य का नाम जो हम पढ़ते हैं इन नामों को परस्पर परियाय-वाची समझना चाहिये। कहीं-कहीं विष्णु और सूर्य विशिष्ट देवताओं के रूप में भी स्वीकार हुए हैं वह भी ठीक है परन्तु जहाँ इन नामों को व्यापक अर्थ में स्वीकार करेंगे वहाँ पर ये शब्द राम का परियाय बन जायेंगे जैसे वेदों में बहुत जगह राम को इन्द्र शब्द से ग्रहण किया है वहाँ इन्द्र विशिष्ट देवता के रूप में नहीं स्वीकार होता वहाँ व्यापक अर्थ में ही राम का परियाय बन जाता है। यथा—

इन्द्रः सीतां निगृह्वातु तां पूषानु यच्छतु।

(ऋग्वेद ४।५७।७ अर्थर्व १।१७।४)

इन्द्रः = रामः, महाराज राम सीताजी को ग्रहण करें और श्री जनकजी महाराज उन अपनी पुत्री सीताजी को राम के समर्पण करें पालन पोषण के कारण जनक पूषा कहलाये। यह मंत्र का अर्थ है इसमें इन्द्र शब्द राम के अर्थ में लिया गया है। इसी प्रकार वहाँ विष्णु और सूर्य भी राम के अर्थ में लिया गया है। इसी प्रकार वहाँ विष्णु और सूर्य भी राम के अर्थ में उपयोग होकर परियाय-वाची होंगे और रामानन्द के अवतार में राम ही सिद्ध होंगे। इस प्रकार शास्त्र वचनों में भिन्नता होने पर भी आपत्ति नहीं आती। यह रामानन्द स्वामीजी के महान् अवतार में शास्त्रीय प्रमाण हैं। आधुनिक ऐतिहासिक विद्वानों ने भी रामानन्द के महान् अवतार के प्रति निम्नलिखित भाव व्यक्त किये हैं।

सम्वत् १९९४ वि० में प्रकाशित होने वाले कल्याण संत अंक में 'श्री रामानन्दाचार्य' शीर्षक से एक लेख छपा है। उसके लेखक

अवध से एक महान् विद्वान् सन्त बिन्दु ब्रह्मचारीजी हैं। उनके लेख का कुछ अंश हम यहाँ नीचे दे रहे हैं।

"श्री भगवत्पादाचार्य के समसामयिक मौलाना रसीदुद्दीन नामक एक फकीर काशी में हो गये हैं। उन्होंने तजकीर तुल्फुकरा' संज्ञक एक पुस्तक लिखी है, जिसमें मुसलमान सन्तों की कथाएँ हैं। उसमें रामानन्द स्वामीजी की भी कुछ चर्चा उन्होंने की है। मैं उसका हिन्दी भाषान्तर नीचे उद्धृत करता हूँ"।

"इस पुरी में (काशी में) पंचगंगाघाट पर एक प्रसिद्ध महात्मा रहते हैं। तेजःपुन्ज और पूर्ण योगेश्वर हैं। वैष्णवों के सर्वमान्य आचार्य हैं। सदाचार एवं ब्रह्मनिष्ठा के स्वरूप ही हैं। परमात्म-रहस्य तत्व के पूर्ण ज्ञाता हैं। सच्चे भगवत्प्रेमियों एवं ब्रह्मविदों के समाज में उत्कृष्ट प्रभाव रखते हैं। अपितु धर्माधिकार में वे हिन्दुओं के धर्म कर्म के सम्राट हैं। केवल ब्रह्मबेला में अपनी पुनीत गुफा से गंगास्नान के लिये बाहर निकलते हैं। उन पवित्र आत्मा को स्वामी रामानन्द कहते हैं। उनके शिष्यों की संख्या पाँच सौ से अधिक है। उस शिष्य समूह में द्वादश गुरु के विशेष कृपा पात्र है। कबीर, पीपा और रैदास आदि। भागवतों के इस समुदाय का नाम 'विरागी' है। जो लोक परलोक की इच्छाओं का त्याग करता है, उसे ब्राह्मणों की भाषा में 'विरागी' कहते हैं। कहते हैं कि इस सम्प्रदाय की प्रवर्तिका (ऋषि) जगज्जननी (श्री) सीताजी हैं। उन्होंने प्रथमतः अपने सविशेष सेवक पार्षद रूप (श्री) हनुमानजी को उपदेश किया और उन ऋषि (आचार्य) के द्वारा संसार में उस रहस्य (मन्त्र) का प्रकाश हुआ। इस कारण इस सम्प्रदाय का नाम 'श्री सम्प्रदाय' है। और उसके मुख्य मन्त्र को रामतारक कहते हैं। और यह कि उस पवित्र मन्त्र की गुरु शिष्य के कान में दीक्षा देते हैं और उर्ध्वपण्ड्र तिलक लाम और मीम के आकार का ललाट तथा अन्य ग्यारह स्थलों पर लगाते हैं। तुलसी का 'होरा' जनेऊ में गूँथ कर शिष्य के गले में पहनाते हैं। उनकी जिह्वा जप में

और मन सच्चे प्रियतम के दर्शनानुसन्धान में रहा करता है। पूर्णतया भजन में ही रहना इस सम्प्रदाय की रीति है। अधिकांश सन्त आत्मारामी अथवा परमहंसी जीवन निर्वाह करते हैं।''

'तजकीर तुल्फुक़रा' नाम की पुस्तक का यह भाषान्तर है। इसमें आचार्य रामानन्द की महिमा को स्पष्ट शब्दों में लिखा है। स्वामीजी के समय में ही होनेवाले मौलाना रसीदुद्दीन ने बड़ी ही सम्मान और आदर की दृष्टि में मुस्लिम फकीरों के साथ रामानन्द स्वामी को लिखा है। उन्होंने उनके सम्प्रदाय का और शिष्यों का भी थोड़े से शब्दों में किन्तु खोलकर वर्णन किया है।

सम्वत् २०१२ में प्रकाशित होने वाली 'रामानन्द की हिन्दी रचनाएँ' नाम की पुस्तिका से लेकर भूमिका का पहला पैराग्राफ नीचे दिया है।

'युग प्रवर्तक रामानन्द'

''युग-युग से जमा हुए घने अंधकार की, आकाश को छूती हुई दृढ़ प्राचीरें आत्मा को बन्दी बनाये रहती हैं। कड़ी लौह श्रृंखलाएँ व्यक्ति को अंधविश्वासों से बाँधे रहती हैं। अन्याय की कारा में व्यक्ति का स्वातन्त्र्य यंत्रणा की असह्यता से कराहता रहता है। अवसाद भराजगत परित्राण की आशा को सर्वदा के लिए त्याग देता है। जान पड़ता है कि हँसती खेलती सरलता का दिन कभी लौटेगा ही नहीं। सहसा एक दिव्य विभूति धरातल पर उतर आती है और आन की आन में दुर्भेद्य प्राचीरें खड़-खड़ ढह पड़ती हैं। लौह शृङ्खलाएँ झनझन टूट गिरती हैं, व्यक्ति की यन्त्रणाएँ फू उड़ जाती हैं और स्वातंत्र्य का सूर्य उसे तपाये सोने की आभा से मढ़ देता है। मध्ययुग के धार्मिक इतिहास में रामानन्द ऐसे ही विभूति थे।'

यह पुस्तिका 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा बनारस' के द्वारा प्रकाशित हुई है। इसकी भूमिका के लेखक ने उपरोक्त वाक्यखण्ड के अन्दर रामानन्द की महत्ता व्यक्त करने में अपनी बड़ी ही योग्यता प्रदर्शित की है। लेखक रामानन्द से अत्यन्त प्रभावित हुए प्रतीत

होते हैं। सम्भव है उन्होंने उनका कुछ ऐतिहासिक अध्ययन किया है। परन्तु पुस्तिका में आगे चलकर आचार्य रामानन्द का जो साम्प्रदायिक परिचय दिया है वह सर्वथा भ्रमात्मक है। रामानुज धारा के भीतर रामानन्द स्वामी को जोड़ना यह पुराने थोड़े से अन्ट सन्ट लेखों का आधार है। वहाँ अध्ययन नहीं किया गया है। और भी कुछ बातें ऐसी हैं जो अनर्गल सी हैं, जैसे रामानन्द की राम-रक्षा नामक हिन्दी पुस्तक को रामानुज से आई हुई मान लेना। वहाँ किसी प्रति में संग्रहकर्ता को किसी अनभिज्ञता द्वारा रामानुज कृत 'रामरक्षा' लिखा हुआ मिला है। उसी पर वैसा अनुमान लगा लिया है। वहाँ रामानन्द की जगह रामानुज भूल से अथवा निरर्थक रामानुज की महत्ता बढ़ाने को लिखा गया है। हिन्दी के जन्मदाता रामानन्द ही हैं और उन्होंने हिन्दी में बहुत सी रचनाएँ भी की हैं। रामानन्द के बाद उनके सभी शिष्यों ने हिन्दी में ही उनके उपदेश जनता तक पहुँचाये हैं। कबीर, रैदास, पीपा और उनके शिष्यों की रचनाएँ इसका प्रमाण हैं। रामानन्द के प्रशिष्यों ने भी हिन्दी में ही ग्रन्थ लिखे हैं। नाभाजी ने 'भक्तमाल' परम प्रसिद्ध ग्रन्थ हिंदी में ही लिखा है। गोस्वामीजी तुलसीदासजी ने मानस' जैसे महा-काव्य को भी हिन्दी में ही रचा है। यह ग्रन्थ कितना लोकप्रिय है इसे सभी जानते हैं। हिन्दी की रूप रेखा साहित्य के रूप में बनना यह आचार्य रामानन्द के इतिहास से सम्बन्धित बात है। रामानुज से हिन्दी से क्या सम्बन्ध, वे द्रविड़ देश के थे, वहाँ हिन्दी का नाम भी कोई नहीं जानता था। हिन्दी राम-रक्षा जिस पर रचयिता का नाम रामानन्द है, उसी रामरक्षा के अक्षरशः रूप में रचयिता रामानुज कैसे हो सकते हैं। कबीरजी तथा गोरख की राम-रक्षाओं के रूप उसी पुस्तिका में सर्वथा भिन्न दिखाये हैं तब एक ही राम रक्षा के रचयिता दो कैसे हो सकते हैं। इस पर पुस्तिका के संग्रह-कर्ता तथा उस पर विचार करने वाले को यह ध्यान में नहीं उतरा कि यह भ्रान्ति से हुआ है। अस्तु ऐसी बहुत सी भूलें पुस्तिका में हैं

जिन पर संग्रहकर्ता महानुभावों ने ध्यान नहीं दिया है। बहुत सी बातें खोज सम्बन्धी उस पुस्तिका में अच्छी भी हैं जिनके लिये वे प्रशंसा के पात्र हैं।

रामानन्द और रामानुज का बहुत सा झमेला इतिहास में है जिसे हर एक इतिहासकार जल्दी नहीं समझ पाता। रामानुज की ख्याति बढ़ाने को रामानन्द की बहुत सी बातें रामानुज से लोगों ने जोड़ी हैं। नाम की साम्यता से वैसी जगह भ्रान्ति हो भी गई है परन्तु खुलने से वह दूर भी हुई है। कुछ दिन पहले गिरनार पर्वत की रामानन्दपादुका को लोग रामानुज पादुका कहने लगे थे परन्तु जब वहाँ जूनागढ़ स्टेट ने अपने रेकार्ड का सरकारी पत्थल लगाया—जिस पर लिखा था 'रामानन्दजी की पादुका' तब उसे देखकर रामानुज का नाम उड़ गया क्योंकि वह झूठा प्रचार था। इस विवाद पर हम आगे चलकर कुछ लिखेंगे।

डा० रामावतार शर्मा के 'भारतीय ईश्वरवाद' ग्रन्थ का रामानन्द विषयक 'पन्द्रहवाँ अंश' से निम्नलिखित उद्धरण लिया है—

"१३०० ई० का आरम्भ हुआ ही चाहता था कि 'दीनबन्धु विन दीन को, कौन सुने भगवान्' को सत्य करने की ओर युग धर्म-पालक ईश्वर का ध्यान हुआ। उसने अपने करुणा के अवतीर्ण करने का संकल्प किया और प्रयाग में पुण्य सदन नामक एक कान्यकुब्ज ब्राह्मण के घर में सुशीला देवी के गर्भ से दलितोद्धारक रामानन्दजी का प्रादुर्भाव हुआ।"

(भारतीय ईश्वरावाद पेज ४८७)

इस उद्धरण का स्पष्ट अर्थ है। शर्माजी ने भी रामानन्दजी की महानता के बारे में जो भाव व्यक्त किये हैं वे उपरोक्त दूसरे उद्धरणों से मिलते हैं। वास्तव में आचार्य रामानन्द स्वामी के चरित्र और लोक कार्य इतने महान् हैं कि उन्हीं के आधार पर लोगों ने उन्हें भगवान् का अवतार स्वीकार किया है। रामानन्द स्वामीजी की महिमा में न जाने कितने ग्रंथ विभिन्न भाषाओं में लिखे गये हैं उन्हें हम अब नहीं दुहराना चाहते, वे सभी इसी प्रकार हैं। इस प्रसंग में अब इतना ही पर्याप्त है।

रामानन्द स्वामीजी का जन्मकाल

बहुत खोज करने पर भी आचार्य रामानन्दजी महाराज का ठीक-ठीक जन्म सम्वत् नहीं मिलता। कहीं-कहीं जो कुछ भी उस सम्बन्ध में लिखा गया है, वह ऐतिहासिक दृष्टि से सही नहीं उतरता। 'रामानन्द जन्मोत्सव' नाम के संस्कृत ग्रन्थ में स्वामीजी का जन्मकाल १३५६ वि० सम्वत् लिखा है—

रसेषु त्र्यवनी संख्ये (१३५६) वर्षे वैक्रमराजके।
माघस्यासित सप्तम्यां रामानन्दो ह्यभूद्भुवि।

१३५६ वि० सम्वत् में माघ कृष्णा सप्तमी के दिन रामानन्द स्वामी का जन्म हुआ। यह श्लोक का अर्थ है। यह सम्वत् सम्भवतः "खंनभोवेद वेद प्रमिते वर्षे गते कलौ" के आधार पर मान लिया गया है। 'खंनभो वेद वेद·····' इस श्लोक के चरण का अर्थ है ४४०० कलियुग के वर्ष बीतने पर रामानन्द स्वामी का जन्म होगा। यह पूरा प्रसंगबद्ध लेख हम पहले रामानन्द की परिचय में लिख चुके हैं। ४४०० वर्ष का टोटल १३५६ वि० सम्वत् के लगभग आता है। यह प्रमाण अगस्त संहिता के भविष्य खण्ड में आया है। उसी पर सबने रामानन्द का जन्मकाल १३५६ वि० सम्वत् मान लिया है। रूपकलाजी ने अपने भक्तमाल की टीका में यही सम्वत् स्वीकार किया है। उन्होंने एक श्लोक निम्नलिखित दिया है—

रामानन्द महा मुनिस्समभवद्रागेषु रामावनी (१३५६)
युक्ते विक्रम वत्सरे घटतनौ माघासिते त्वाष्ट्रभे।

सप्तम्यां गुरुवासरे युजि तथा सिद्धौ प्रयागाश्रम ।
च्छो मद्भूसुर राजपुण्यसदनाद्रामावतारः कृती ।

रूपकलाजी ने यह श्लोक कहाँ से लिया है यह कुछ नहीं लिखा है, इसका अर्थ वही है जो हम पहले व्यक्त कर चुके हैं। १३५६ वि० सम्वत् में राम के महान् अवतार रामानन्दजी हुए। प्रधान धाम, माघ कृष्ण सप्तमी, महात्मा पुण्यसदनजी के यहाँ जन्म ये सभी बातें सभी जगह एक सी ही हैं। रामानन्द दिग्विजय में भी यही जन्म काल है।

रसेषु कालेन्दु युते प्रतापि श्रीविक्रमाब्दे तपसोऽसितस्य,
पक्षस्य शोभाति शयेन जुष्टे तिथौ शुभायां रवि देवताके।

(श्रीरामानन्द दिग्विजय तृतीय स्वर्ग)

रवौ धनुस्थे च शनौ तुलास्थे चन्द्रे यथा कोण गते बुधे च।
केन्द्रे गुरौ दैत्य गुरौ च राहौ मेषास्थिते भूमि सुते तथैव।।
कुम्भे च लग्नेऽथ च सिद्ध योगे रवावुदीते किल सप्तदण्डे।
त्वाष्ट्रे च ऋक्षे जगतामधीशः सुशीलया साविसुखेनसूनुः।

(श्रीरामानन्द दिग्विजय तृतीय सर्ग)

१३५६ वि० सम्वत्, माघ कृष्णा सप्तमी, सूर्य धन राशि में, शनि और चन्द्र तुला राशि में बुध कोष में, गुरु और शुक्र केन्द्र में, राहू और मंगल मेष राशि में, कुम्भ लग्न, सिद्ध योग, चित्रा नक्षत्र तथा सप्तदण्ड सूर्योदय इन सब पवित्र योगों में तीनों लोकों के स्वामी माता सुशीला के उदर से रामानन्द के रूप में उत्पन्न हुए।

इस जन्म कुण्डली में भी १३५६, वि० सम्वत् दिया है। वैश्वानर संहिता में कुण्डली तो आई हैं पर जन्म सम्वत् नहीं है। यथा—

माघे च कृष्ण सप्तम्यां चित्रा नक्षत्र संयुते ।

कुम्भ लग्ने, सिद्ध योगे, सुसप्त दण्डगे रवौ।
रामानन्दः स्वयं रामः प्रादुर्भूतो मही तले।

(वै० संहिता)

माघ कृष्ण सप्तमी के दिन कुम्भ लग्न, चित्रा नक्षत्र. सिद्ध योग तथा सप्तदण्ड सूर्योदय होने में स्वयं भगवान् राम ने रामानन्द के रूप में पृथ्वी पर जन्म लिया।

इन सब प्रसंगों से यह भी ज्ञान होता है कि प्राचीन लोग महान् अवतारों के जन्म सम्वतों पर अधिक ध्यान नहीं देते थे। वे केवल साधारण कुण्डली जिसमें महीना और तिथि ग्रहों के साथ आजावें— लिया करते थे। उपयोगी वस्तु जन्मोत्सवों में महीना और तिथि ही होती है। वैदिक अवतारों में जितनी जन्म तिथियाँ मनाई जाती हैं उनमें महीना और तिथि ही प्रधान हैं। जन्म सम्वतों का वहाँ कोई नाम ही नहीं है प्राचीनों के ध्यान में आचार्य रामानन्द स्वामी जी भी महान् अवतार हैं अतः उनका भी महीना और तिथि ही जन्म के समय में उन्होंने लिया है। साधारण तौर से कुण्डली के ग्रहों का भी वहाँ वर्णन हुआ है। परन्तु सम्वत् को वहाँ अनावश्यक समझा है।

इधर जो कुछ रामानन्द सम्प्रदाय के भीतर आचार्य रामानन्द पर लिखा गया है उसमें केवल भावना प्रधान है ऐतिहासिक खोज नहीं है। १३५६ वि० सम्वत् का जन्म सम्वत् के रूप में जो उल्लेख हुआ है वह अनुमानतः 'अगस्त संहिता, भविष्य खंड' के आधार पर ही हुआ है। वहाँ ४४०० वर्ष कलियुग के बीतने पर रामानन्द स्वामी का जन्म प्राणियों के उद्धार के लिये होगा, लिखा है। यह परिमाण १३५६ वि० सम्वत् पर ही समाप्त होता है, अतः वे लोग एक स्वर से १३५६ वि० सम्वत् रामानन्द स्वामीजी का जन्म संवत् मान लिये।

इन सबसे भिन्न प्रमाण रामानन्द स्वामीजी के जन्म के विषय में भविष्य पुराण में भी आया है। वहाँ पर रामानन्द के अवतार

का प्रकरण ही अलग है। वहाँ रामानन्द का अवतार सूर्य का कहा गया है। पिता और स्थान के नाम पर 'देवल' नामक कान्यकुब्ज ब्राह्मण के घर काशीजी में जन्म बताया गया है। जन्म सम्वत् का वहाँ कोई कथन ही नहीं किया है। इस कथानक को विद्वान् लोग कल्पान्त का भेद बताते हैं। नीचे उसका उद्धरण दिया जाता है।

इति श्रुत्वा रवेर्गाथावैशाख्यां देवराट् स्वयम् ।
प्रत्यक्षं भास्करं देवं ददर्श संहितं सुरैः ॥
भक्तिनम्रान्सुरान्दृष्ट्वा भगवांस्तिमिरापहः ।
उवाचवचनं रम्यं देवकार्यं परं शुभम् ॥२॥
ममांशात्तनयो भूमौ भविष्यति सुरोत्तम ।
इत्युक्त्वा स्वस्य विम्बस्य तेजोराशि समन्ततः ॥३॥
समुत्पाद्य कृतं काश्यां रामानन्दस्ततोऽभवत् ।
देवलस्य च विप्रस्य कान्यकुब्जस्य वै सुतः ॥४॥

(भविष्यपुराणे तृतीये प्रति सर्ग पर्वणि सप्तमाध्याये)

इस प्रसंग में सूर्य भगवान् ने देवराज इन्द्र को स्वयं रामानन्द के रूप में आप ही अवतार लेने को कहा है।

पुराण और संहिताओं के बड़े विशाल क्षेत्र हैं। उनके अर्थव्यापक होने के कारण हर एक समाधान की ओर खिंच जाते हैं। विद्वान् लोग उनमें अन्तर देखते हुए भी उन्हें अप्रामाणिक नहीं कहते। वे जानते हैं कि व्यापक विचारों में साधारण अन्तर रहते हुए भी अन्तर नहीं रहता। आचार्य रामानन्द के सम्बन्ध में प्राचीन लेखों में जो साधारण अन्तर है वह व्यापक विचारों में दूर हो जाता है। इस कारण भविष्य पुराण और संहिताओं के अर्थों को हम व्यापक विचारों में एकत्व कर लेते हैं और तब हमारा अन्तर भेद वहाँ से दूर हो जाता है।

काल का निर्णय जो अगस्तसंहिता में ४४०० वर्ष आया है उसे हम अशुद्ध पाठ मानते हैं। हस्तलेखों में बार-बार प्रतिलिपियाँ होने से स्वाभाविक ही अशुद्धियाँ आ जाती हैं और सभी प्राचीन ग्रन्थों में पाठभेद हो जाते हैं। अगस्तसंहिता का वह काल ऐतिहासिक खोज में संशोधित होने की आवश्यकता रखता है। काल पाकर उसमें अशुद्धि आ गई है इसी कारण उसके आधार पर १३५६ वि० सम्वत् निश्चित हुआ ऐतिहासिक खोज में आचार्य रामानन्द का जन्म सम्वत सिद्ध नहीं होता। ऐतिहासिक विचार उसके बहुत ही ऊपर जाते हैं। जन्म सम्वत छोड़कर शेष सभी बातें आचार्य रामानन्द के सम्बन्ध में पुराण और संहिताओं के अन्दर महत्वपूर्ण हैं। हम उन्हीं के द्वारा रामानन्द की महानता समझ सकते हैं। अस्तु अब हम युग के इतिहास पर विचार करते हैं।

हम पहले लिख चुके हैं कि लोक-प्रसिद्ध ज्ञानेश्वरजी के पिता विट्ठलपंथजी १३१८ वि० सम्वत के लगभग दक्षिण से आकर आचार्य रामानन्द के शिष्य हुए और बराबर बारह वर्ष तक उनकी सेवा में रहे। उस समय तो रामानन्दजी लोक में बहुत ही प्रख्यात हो चुके थे। देश के कोने-कोने में उनकी रामोपासना का प्रचार हुआ था। बड़े-बड़े आवू-गिरनार जैसे सिद्ध पर्वतों पर उनकी चरण पीठें स्थापित हो चुकी थीं। इन सब महान् कार्यों में उनका लम्बा समय लगा होगा और उस समय उनकी आयु कम से कम ७०, वर्ष की अवश्य होगी। इस प्रकार आचार्य का जन्मकाल १२४८, वि० सम्वत के लगभग जाता है। पटना यूनिवर्सिटी के प्रोफेसर डा० रामावतार शर्मा ने अपने स्वलिखित भारतीय ईश्वरवाद' में स्वामी जी का अवतार ईसा की तेरहवीं शताब्दी के आरम्भ में माना है। उसका टोटल भी १२५७, वि० सम्वत बनता है। शर्माजी का कथन हमारे अनुमान के बहुत ही निकट पहुँच जाता है।

गिरनार पर्वत की रामानन्द गुफा

गिरनार पर्वत की खोज भी हमें आचार्य रामानन्द के काल को

स्पष्ट करने में सहयोग देती है। गिरनार पर्वत पर आचार्य रामानन्द स्वामीजी का खास निवासस्थान बना हुआ है। वह आजकल 'रामानन्दपादुका' के नाम से प्रसिद्ध है। वहाँ पर एक पुनीत गुफा भी बनी हुई है जिसमें रामानन्द स्वमी बहुत काल तक बैठकर कच्छ, भुज्ज और सौराष्ट्र-गुजरात में रामोपासना का प्रचार किये थे। रामानन्द स्वामीजी के सभी स्मारकों में यह एक मुख्य और ऐतिहासिक पवित्र स्मारक है। गिरनार पर्वत के और सभी पवित्र स्थानों में यह सबसे सुन्दर और रमणीय स्थान है। यहीं पर आचार्य की परम प्राचीन चरणपादुका है जिसे भारत के तमाम रामानन्दी सन्त बड़ी श्रद्धा से पूजने जाते हैं।

सन् १९५५ ई० की अपनी सौराष्ट्र यात्रा में मैंने इस पुनीत धाम का खोज किया था। मुझे वहाँ बहुत सी ऐतिहासिक सामग्री मिली जो मेरे इतिहास की वस्तु है। इसी पर्वत के नीचे जूनागढ़ नाम का शहर बसा हुआ है। इसमें रामानन्दी सन्तों के अनेक प्रसिद्ध-प्रसिद्ध स्थान बने हैं। एक स्थान सबसे प्राचीन है जिसे 'भूत काभोंयरा' कहते हैं। यह स्थान बड़ा ही आश्चर्यमय बना है। इसे एक गंगाराम नाम के प्रेत (ब्रह्मराक्षस) ने अपने गुरुदेव प्यारारामदासजी के निबास के लिये बनाया था। यह एक पर्वत की टेकरी को खोद कर बनाया है। इसमें अनेकों कमरों के रूप में गुफाएं हैं और बहुत सी गुफाओं में तो देव प्रतिमाएँ भी हैं। स्वयं गंगाराम प्रेत की भी प्रतिमा वहाँ एक गुफा में है। वह विचित्र और पवित्र स्थान रामानन्द सम्प्रदाय का है परन्तु आज कल इसे दिल्ली सरकार ने अपने हाथ में ले लिया है और अब उस पर दिल्ली सरकार का पहरा रहता है। यात्रियों को दर्शन की पूरी सुविधा रहती है परन्तु उसके भीतर कोई भी रह नहीं सकता है।

महात्मा प्यारारामदासजी १५५३ वि० सम्वत में गिरनार पर्वत के नीचे आकर उसी स्थान पर बैठे थे जहाँ उनके लिए बाद में उनके शिष्य प्रेत ने वह विचित्र स्थान बनाया। जूनागढ़ में उस समय बादशाह सुजानशाह राज्य करता था। उसकी दो हुई जागीरें अभी

तक बाबा प्यारारामदासजी की परम्परा के रामानन्दी वैष्णवों को मिल रही हैं। भारत के रामानन्द सम्प्रदाय का यह सबसे प्राचीन स्थान है। इसे बने हुए ४५० वर्ष के लगभग हो गये।

प्यारा रामदासजी गिरनार पर्वत के 'रामानन्द पादुका' स्थान से सम्बन्ध रखते थे। वे उस समय के पादुका के आचार्य नैनूजी (नैनानन्दजी) महाराज के शिष्य थे। नैनूजी महाराज से आठवीं पीढ़ी ऊपर आचार्य भगवान् रामानन्दजी महाराज हुए हैं और नैनूजी महाराज से उसी तरह नीचे की ओर प्यारारामदासजी को लेकर चौदह (१४) पीढ़ियाँ हुई हैं। प्यारारामदासजी १५३६, वि० सम्वत में आचार्य नैनूजी (नैनानन्दजी) महाराज के शिष्य हुए, चौदहवीं पीढ़ी १९५५ ई० (सं० विक्रम २०१०) तक पूरी हुई है। ये १४ पीढ़ियाँ लगभग ४५० वर्षों के भीतर ही पूरी हुई हैं। परन्तु इधर इन १४ पीढ़ियों में चार या पाँच पीढ़ियाँ अल्पजीवी हुई हैं इसका कारण उनके यति-धर्म का भंग होना है। इन ४-५ पीढ़ियों को हम लगभग १०० या १२५ वर्ष के भीतर ही पूरी होना मान लेते हैं। शेष पीढ़ियाँ ३२५ या ३५० वर्ष में पूरी होती है। इसी प्रकार हम ऊपर की ८ पीढ़ियों को भी ३३५ वर्ष के अन्दर बाँट सकते हैं। इस मोटे हिसाब से आचार्य रामानन्द १२५० या उससे कुछ ऊपर वि० सम्वत् में श्रीसम्प्रदाय के आचार्य हुए होंगे। इस कथन के अनुसार उनका जन्म कुछ और ऊपर जायेगा। हम इस विवाद के बाद यह निर्णय कर सकते हैं कि आचार्य रामानन्द का जन्म वि० सम्वत् की तेरहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध भाग में किसी भी समय हुआ है।

रामानन्द का अध्ययन

दिव्य विभूतियों के सभी चरित्र आश्चर्य में डाल देने वाले होते हैं। उनकी अलौकिक प्रतिभा सभी क्षेत्रों में ही चमत्कार पैदा करने लगती है। साधारण वर्ग उनकी समता में नहीं जा सकता इसलिये वह उन्हें अवतार मानने लगता है। आचार्य रामानन्द के सम्बन्ध में भी यही बात है। उनके हर एक चरित्र ने लोक में चमत्कार पैदा किया है। आठ वर्ष की आयु में जब उनका उपनयन संस्कार हुआ तब प्रथा के अनुसार ब्रह्मचर्य वेष में अध्ययन के लिये वे काशी चले। थोड़ी दूर जाने पर कुटुम्बियों ने पीछे घर लौटने की प्रेरणा की। उन्होंने उन्हें समझाया कि इसी प्रकार सब करते हैं इसी प्रकार उन्हें भी करना चाहिये। परन्तु बालक रामानन्द ने उनके सुझाव को नहीं माना। वे सच्ची प्रथा के पालन करने में ही दृढ़ रहे। लोग बड़े हैरान थे पर कर ही क्या सकते थे। अन्ततोगत्वा वैदिक प्रतिज्ञा के अनुसार वे काशी चल दिये। मोहवश उनके माता-पिता भी साथ हो लिये और काशी पहुँच गये। काशी में उनका अध्ययन आरम्भ हुआ और थोड़े ही दिनों में उन्होंने सर्व-शास्त्रों का अध्ययन कर डाला। बारह वर्ष की आयु तक पहुँचते-पहुँचते उनके अध्ययन की कोई वस्तु नहीं रह गई। बड़े-बड़े काशी के विद्वानों में उनके पाण्डित्य की चर्चा होने लगी। प्रकाण्ड पण्डितों का दल उनके सामने आता था और अनुत्तर हो जाता था। एक दिन कालीखोह की एक विदुषी वृद्धा रामानन्द की परीक्षा के लिये आई। वह इतनी दिव्य संस्कृत बोलती थी कि उसे समझने में हर एक विद्वान् समर्थ नहीं होता था। उसने रामानन्द के सामने बैठकर बड़े-बड़े क्लिष्ट प्रश्न किये जिनका उत्तर उन्होंने आसानी से दे दिया। वह वृद्धा रामानन्द की प्रतिभा देखकर चकित हो गई। उसने निर्णय

दिया कि इस ब्रह्मचारी को जीतने वाला संसार में कोई विद्वान् नहीं है। अन्त में उसने बड़ी प्रसन्नता में उन्हें आशीर्वाद दिया और चली गई ?

(प्रसंग पारिजातम् से)

काशी में श्री सम्प्रदाय के महान् आचार्य स्वामी राघवानन्दजी महाराज निवास करते थे। वे अपने युग के बड़े ही प्रतापी महापुरुष थे। उन्होंने बहुत लम्बे कालतक भूतल पर रामभक्ति का प्रचार किया और पीछे काशी में स्थायी निवास की इच्छा की। नाभाजी ने उनके सम्बन्ध में अपने भक्तमाल में एक छप्पय लिखा है—

"देवाचारज, द्वितीय महामहिमा हरियानन्द।
तस्य राघवानन्द भये भक्तन को मानन्द॥
पत्रावलम्ब पृथिवी करीब काशी स्थाई।
चारिवरन आश्रम सबही को भक्ति दृढ़ाई"॥

(भक्तमाल छप्पय ३५ से)

श्रीदेवानन्दजी के शिष्य हरियानन्द हुए और उनके शिष्य राघवानन्दजी हुए। ये ही आचार्य राघवानन्दजी ने सारे पृथ्वी मण्डल पर घूम कर रामभक्ति का प्रचार किया। उन्होंने चारों वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) को और चारों आश्रमों (ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वाणप्रस्थ तथा सन्यस्त) को अपना उपदेश दिया। अन्त में अपनी प्रधान पीठ काशीजी में स्थायो निवास किये।

ब्रह्मचारी रामानन्द का बहुत बड़ा अध्ययन इन्हीं आचार्य राघवानन्द जी की पीठ में ही हुआ था। जब वे सर्वशास्त्र पारंगत विद्वान हो गये तब उन्हें अपने पूर्व निवास माता-पिता के स्थान को लौट जाना चाहिये था। यही प्रस्ताव ब्रह्मचारी रामानन्द के सामने आया और आचार्य राघवानन्दजी ने भी इस पर अपनी वैसी ही अनुमति दे दी।

ब्रह्मचारी रामानन्द के माता-पिता भी काशी आ चुके थे। वे अपने पुत्र के महान् फैले हुए यश को सुनते थे और उसपर अपने को कृतार्थ मानते थे। ब्रह्मचारी रामानन्द ने अपने महान् यशस्वी माता-पिता की सेवा में सविनय निवेदन किया कि वे उन्हें संसार के कल्याण के लिये सीधे चतुर्थ आश्रम में जाने की अनुमति दें। महान् युग उनकी प्रतीक्षा कर रहा है। माता-पिता ने पुत्र के इस प्रस्ताव पर गम्भीर विचार किया और पीछे सहर्ष अनुमति दे दी। यह बड़ी ही उदारता थी और बड़ा ही त्याग था। संसार हित के लिये अपने सर्वस्व अकेले पुत्र को समर्पित कर देना यह एक असाधारण बात थी। पूज्या माता सुशीला और पूज्य पिता पुण्य सदन के ही अनुरूप यह महान् कार्य था इसलिये कि वे विश्ववन्द्य रामानन्द के माता पिता थे।

रामानन्द का आचार्यत्व ग्रहण

माता-पिता की अनुमति मिलने पर ब्रह्मचारी रामानन्द ने आचार्य राघवानन्दजी की सेवा में अपने विचार रख दिये। आचार्य राघवानन्दजी ने जब यह रामानन्द का निर्णय सुना कि वे गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना नहीं चाहते, विरक्त बनकर ही लोक कल्याण करना चाहते हैं, तब वे बड़े ही प्रसन्न हुए। इसमें उन्होंने माता-पिता की भी अनुमति समझ कर रामानन्द के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। उन्होंने शुभ दिन देखकर रामानन्दजी के विरक्तोचित संसार किये और उन्हें मन्त्रराज श्रीराममन्त्र का उपदेश दिया। श्रीसम्प्रदाय में बड़ी प्रसन्नता मनाई गई, इसलिये कि उसके उत्तराधिकार के संरक्षण को एक महान् आचार्य का नया जन्म हुआ।

आचार्य राघवानन्दजी वयोवृद्ध हो चुके थे। अब वे विश्ववन्द्य अपनी पीठ का भार दूसरे को सौंपना चाहते थे। उन्होंने सुयोग्य अपने शिष्य रामानन्द स्वामी को पाकर उसका भार उन्हें ही सौंपने का निर्णय किया। सभी सामग्री इकट्ठी हुई और तुरन्त शुभ मुहूर्त

देखकर रामानन्द को आचार्य राघवानन्दजी ने श्रीसम्प्रदाय की पीठ पर अभिषिक्त कर दिया। पृथ्वी पर आनन्द छा गया और लोक ने एक महान् आचार्य का दर्शन किया।

श्रीसम्प्रदाय की प्रधान पीठ पंचगंगा घाट काशी थी। उस पर अपने ईश्वरी तेज में दीप्तमान होकर प्रधान आचार्य के रूप में रामानन्द स्वामी विराजमान हुए। इन तेजस्वी आचार्य में सभी धर्म के अंश विद्यमान थे। संसार के लिये ऐसे ही प्रतापी धर्मगुरु की आवश्यकता थी, वे ही उस समय उसे प्राप्त हुए। वे युग का निग्रह करने में सर्वसमर्थ थे ऐसा सिद्ध दैवज्ञों का कथन था।

आचार्य रामानन्द की सेवा के लिये बड़ी-बड़ी विभूतियों ने लोक में अवतार लिया। वे हर एक वर्ग में उत्पन्न हुईं और आचार्य के कार्यों में सहयोग देने के लिए उनकी सेवा में पहुँच गईं। इन सबके भीतर द्वादश महाभागवतों के नाम मुख्य हैं। अनन्तानन्दजी ब्रह्माजी के अवतार हैं, सुखानन्दजी शंकरजी के अवतार हैं, सुरसुरानन्दजी नारदजी के अवतार हैं, नरहरियानन्दजी सनत्कुमार-जी के अवतार हैं, पीपाजी मनुमहाराज के अवतार हैं, कबीरजी प्रह्लादजी के अवतार हैं, भावानन्दजी जनकजी के अवतार हैं, सैनाजी भीष्मजी के अवतार हैं, धनाजी बलिमहाराज के अवतार हैं, रैदासजी यमराज के अवतार हैं, गालवानन्दजी शुकदेवजी के अवतार हैं, योगानन्दजी कपिलजी के अवतार हैं। ये सब द्वादश महानुभाव देवांशों से उत्पन्न हुए थे। इनकी अलौकिक शक्ति इनके साथ थी। ये सभी आचार्य रामानन्द के प्रधान शिष्यों में गिने गये थे। इनके अतिरिक्त और भी असंख्यों विभूतियाँ स्वामीजी के शिष्यों के रूप थीं। वे सभी एक से एक प्रतापी थीं और सभी स्वामीजी की सेवा में सावधान थीं। नाभाजी ने अपने 'भक्तमाल' में इनका बड़ा ही सुन्दर विवेचन किया है। यद्यपि भक्तमाल के उस छप्पय को पहले भी दिखा चुके हैं परन्तु फिर भी यहाँ उसका उदाहरण देना आवश्यक समझते हैं।

श्रीरामानन्द रघुनाथ ज्यों द्वितीय सेतु जग तरण कियो।
अनन्तानन्द, कबीर, सुखा, सुरसुरा, पद्मावती, नरहरि ।।
पीपा, भावानन्द, रैदास, धना, सैन्य, सुरसुरकी घरहरि।
औरौ शिष्य प्रशिष्य, एकते एक उजागर ।।
शिवमंगल आधार भक्ति दशधा के आगर।
बहुत काल वपु धारिके प्रणत जनन को पारिदियो ।।
श्रीरामानन्द रघुनाथ ज्यों द्वितीय सेतु जगतरण कियो।

(भक्तमाल छप्पय ३६)

नाभाजी आचार्य रामानन्द के महान् कार्य का सांकेतिक शब्दों में वर्णन करते हैं। वे रामानन्द से त्रेता के परात्पर अवतार रघुनाथ जी की उपमा देकर उनकी महिमा कहते हैं। यह महिमा धर्माचार्य के रूप में थी अतः उसमें दया, प्रेम और प्राणियों का कल्याण भरा हुआ दिखाया है। राम ने बानरी सेना को समुद्र पार ले जाने के लिये विशाल पर्वतों का पुल बनाया और रामानन्द ने भवसागर को ही पार करने के लिये भक्ति रूपी सुदृढ़ पुल बनाया। राम के उस पुल से रामानन्द का यह पुल कहीं महान् है। वह पुल राम के सामने ही तोड़ दिया गया परन्तु रामानन्द का यह पुल अमर है। इस पुल से नित्य-नित्य असंख्यों-असंख्यों प्राणी पार होकर आनन्द सुख को प्राप्त होते हैं। नाभाजी के कथन में मर्यादावतार राम ही रामानन्द के रूप हैं परन्तु यह रूप धर्माचार्य का रूप है। ब्रह्म, शिव आदि शक्तियाँ उनके शिष्यों के रूप में आईं। यह प्रसंग रामानन्द को राम की ओर खींचता है। नाभाजी आचार्य रामानन्द के महत्वपूर्ण युग के कार्यों के लिये उनके असंख्यों प्रतापी शिष्यों का नाम लेते हैं। इस प्रकार रामानन्द स्वामी के आचार्यत्व का महान् युग प्रारम्भ होता है।

आचार्य रामानन्द के ऐतिहासिक कार्य

धर्माचार्य अपने युग का ईश्वर होता है। वह जब संसार में आता है प्रजा के दुख दारिद्रय को दूर करता है। समाज के भीतर जो भी बुराइयाँ रूढ़ियाँ बनकर बैठती हैं, धर्माचार्य ही उन्हें हटाता है। राजशासन भी उसके प्रताप से उसी तरह सुधरता है जिस प्रकार कि व्यावहारिक जगत् सुधरता है। स्वामी रामानन्दजी के आचार्यत्व काल में ये सभी बातें सुधारने की थीं। वे ऐसे युग में आये थे जबकि राजनीतिक क्षेत्र और धार्मिक क्षेत्र दोनों ही चोटी से बिगड़ रहे थे। यह भयानक रोग था जिसे मिटाने के लिये आचार्य रामानन्द ही समर्थ हो सके थे। भारत में बहुत से धर्म-संस्थापक और धर्माचार्य हुए परन्तु उनके युग रामानन्द के युग के सामने बहुत ही सामान्य थे। उन्हें केवल धार्मिक विवादों में ही साधारण सुधार करने पड़े। शासन विभाग का भयानक हाहाकार उनके सामने नहीं था। रामानन्द के सामने छोटे-छोटे अनेक धार्मिक विद्रोह भी देश में फैले पड़े थे जो प्रजा के लिये अभिशाप बन रहे थे। शैव, वैष्णव, शाक्त, जैन और बौद्ध आदि प्रजा को पारस्परिक घृणा और राग-द्वेष में जला रहे थे। इस महामारी के कीटाणु—इतिहासकार कहते हैं—पूर्व के आचार्य ही पैदा कर गये थे। रामानन्द को उन्हें मिटाना था। शासन विभाग का क्षेत्र इससे भी भयानक था। उस समय देश के गौरव की पताका गिर गई थी। बाहर से आने वाले लोगों का शासन जम गया था। उसका नंगा नाच हिन्दू प्रजा की छाती पर हो रहा था। महिलाओं के अपहरण, पवित्र देवालयों के विनाश तथा बलात् धर्म के परिवर्तन उस समय चारों ओर हो रहे थे। उस क्रूर शासन के हाथ में रक्त से भीगी हुई नंगी तलवार चमकती थी। उसका निवारक कोई नहीं था।

महान् रामानन्द के सामने यह भी भयानक प्रश्न सुलझाने को खड़ा था। उन्होंने इसे भी देखा।

आचार्य रामानन्द के शिष्यों की संख्या पचीस हज़ार तक इतिहासकारों ने लिखी है। उनमें से बारह शिष्य प्रधान थे जिन्हें हम पहले गिना चुके हैं। ये सभी शिष्य त्यागी थे, विरागी थे, योगीश्वर थे, आत्मसंयमी थे और सब कुछ करने में समर्थ थे। इन सबके मस्तक पर आचार्य का वरदहस्त था इसीलिये वे सब और भी अभय थे। देश के लम्बे भू भाग में फैली हुई असहाय प्रजा ने अपने प्रतापी धर्माचार्य और उनके समर्थ शिष्यों का नाम सुन लिया था। इससे उसके हृदय में एक त्राण की आशा जगी थी और वही उसे जीवित रख रही थी।

हिन्दू जाति की पुकारें आचार्य के कानों में बराबर पहुँच रही थीं। वे उन्हें सुनकर द्रवीभूत हो उठे थे। उन्होंने अपने शिष्य-प्रशिष्यों को हिन्दू-धर्म और हिन्दू-जाति की रक्षा के लिये आज्ञा दे दी। आचार्य की आज्ञा पर सभी समर्थ शिष्य-प्रशिष्य प्रत्येक दिशा में जाकर भारत की भूमि पर उतर गये। वह एक पशु बल पर आध्यात्मिक बल का प्रदर्शन था। उनके प्रताप से शासन के वायु-मण्डल में हलचल मची, मस्जिदें दौड़ीं, शाही तख्त उलटे, चमकती हुई तलवारें स्तब्ध हुईं, यंत्रणा की शृङ्खलाएँ टूटीं और अनाथ हिन्दू प्रजा ने जीवन की श्वासें लीं। अत्याचारी काँप गये और उन्होंने योगीश्वरों के चरणों पर मस्तक रख दिये। देश के विभिन्न प्रान्तों के अन्दर ऐसे हजारों स्थान हैं जिन्हें देखकर हम आज उस युग के महापुरुषों की शक्तियों का सन्तुलन कर सकते हैं। यद्यपि आज स्वतन्त्र भारत के ऐतिहासिक यात्री उस युग का पता लगाने के लिये सिन्ध देश के शिकारपुर नगर में जायँ और वहाँ फरलांगों दौड़कर सड़क पर रखी हुई मस्जिद को देखें और उससे इतिहास पूछें तो उन्हें पता लगेगा कि किसी दिन उस नगर का अत्याचारी

बादशाह मस्जिद दौड़ाने वाले महान् योगेश्वर बाबा श्यामदासजी के सामने घुटने टेक कर पड़ा था और उसने बाबा से क्षमा माँगी थी। उसी ने वहाँ बाबा का आश्रम बनवाया था, जागीर लगाई थी और हिन्दुओं के साथ पवित्र व्यवहार करने को प्रतिज्ञा की थी। इसी प्रकार हजारों नगरों में हजारों आश्रम मिलेंगे जो उस युग के इतिहास के सबूत हैं। उन्हें आज लोग अधिक दिन होने से भूलते से जा रहे हैं। यह कहना कोई असंगत नहीं होगा कि उस युग के महत्वपूर्ण इतिहास की कोई भी अच्छी खोज नहीं हुई। यह बात बहुत ही ध्यान से समझने की है कि यदि उस युग में आचार्य रामानन्द और उनके प्रतापी शिष्य-प्रशिष्य नहीं होते तो अरब देश के समान भारत भी मुस्लिम देश होता।

बादशाह तुगलक और रामानन्द

मुसलमानी हुकूमत में प्रायः ऐसे ही बादशाह हुए हैं जिन्होंने हिन्दुओं के ऊपर जुल्मों पर जुल्म ढाये हैं। उनकी बरबरताएँ सुनकर हृदय काँप उठता है। वास्तव में मुसलमान जाति ही हिन्दुस्तान में एक ऐसी जाति आई जिसका इतिहास घृणा, क्रूरता और अत्याचारों से सना है। यह कहना कोई असंगत नहीं होगा कि हिन्दुओं के पाप ही मुसलमान बनकर भारत में आये जो अब तक उनका विनाश कर रहे हैं। गयासउद्दीन का बेटा जूनाँ खाँ जब अपने बाप को मारकर मुहम्मद तुगलक के नाम से बादशाह हुआ तब उसने अनेकों मनमाने अत्याचार किये। वह पल्ले सिरे का हठी और उद्दण्डी शासक था। बहुत से लेखकों ने उसकी बड़ी निन्दा की है तख्त पर बैठते ही उसने हिन्दुओं को मिटाने का संकल्प किया। उसने हिन्दुओं के खिलाफ बारह कानूनें बनाईं जो जजिया टैक्सों के रूप में थीं। हिन्दुओं को मुसलमान काफिर कहते थे और काफिरों को मार डालना उनके यहाँ कोई पाप नहीं था। बारह जजिया काफिरों पर ही लागू किये गये थे। वे निम्न-लिखित हैं—

१—हिन्दुओं का परमात्मा अलग है, उससे खुदा बड़ा है उसे न मानने से हिन्दुओं को सजा दी जाय।

२—नये मन्दिरों को न बनने दिया जाय।

३—हिन्दू दूल्हा मस्जिद के सामने सवारी से उतरकर पैदल चले।

४—गऊकशी मज़हबी समझ कर की जाय।

५—हिन्दू अपने धर्म का प्रचार नहीं कर सकें।

६—हिन्दुओं के धर्म ग्रन्थ जला दिये जायँ।

७—मन्दिरों को तुड़वाकर उनपर मस्जिदें बनवाई जायँ।

८—मुहर्रम के समय सभी हिन्दू त्यौहार बन्द हो जायँ।

९—शंख नहीं बजाया जाय।

१०—कुम्भ मेलों के ऊपर स्त्री बच्चों पर भी कर लगाये जायँ।

११—हिन्दू कन्याओं का बलात् अपहरण किया जाय।

१२—हिन्दुओं को जबरदस्ती मुसलमान बनाया जाय।

इन बारह जजिया करों का विवरण 'प्रसंग पारिजातम्' से लिया है। ७७वीं अष्टपदी में इन सबका उल्लेख हुआ है परन्तु वहाँ मुहम्मद तुग़लक का इन करों के लगाने में नाम नहीं है। उसका कार्यकाल (१३२५-१३५१ ई०) है। दूसरे ग्रन्थों में यह उल्लेख हुआ है कि बादशाह तुगलक ने स्वामीजी की सेवा में पत्र लिख कर क्षमा माँगी और बारह जजिया कर हटा लिये। 'प्रसंग पारिजातम्' में यह कथन तो सब आया है परन्तु नाम ही किसी बादशाह का नहीं है अतः हमने मुहम्मद तुगलक का इतिहास अलग देखकर उसका नाम १२ जजियाओं के लगाने में ले लिया है। 'प्रसंग पारिजातम्' में इस प्रकार की कथा है—किसी एक समय पर्व पर भारत भर के मुख्य-मुख्य हिन्दू काशी आये और स्वामीजी की सेवा में निवेदन किये कि मुसलमानों ने बारह जजिया कर हिन्दुओं पर लगा दिये हैं उनके कारण हिन्दू जाति विनाश होना चाहती है। उसकी रक्षा का भार धर्माचार्य पर ही है। उन्हें छोड़कर दूसरा

कोई उस समय संसार में उसका रक्षक नहीं है। आचार्यपाद ने यह दुःख भरी कहानी सुनी और द्रवीभूत होकर उन्हें आश्वासन दिया। उन्होंने कहा, 'इसका उपाय कर दिया गया है, जल्दी से जल्दी सबका दुःख दूर हो जायेगा। सब कोई अपने-अपने घर भगवान् का स्मरण करके चले जायँ"। स्वामीजी का यह आदेश सुनकर सब कोई अपने-अपने घर आनन्द से चले गये। सबके हृदय में आचार्य की अलौकिक शक्ति का विश्वास था। उस समय वे सब जानते थे कि आचार्यपाद स्वयं ही भगवान् हैं, जो कहते हैं सब सत्य हैं।

स्वामीजी की निग्रहाशक्ति भारत में पहले से ही व्याप्त हो चुकी थी तमाम देश के मुल्लाओं के अजान देते समय. कण्ठ बन्द होने लगे। जब नमाज का समय आता था और मुल्ला मस्जिद में घुसता था उस समय उसके कण्ठ को लकवा मार देता था। इस प्रकार सभी देश भर के मुल्लाओं के कण्ठ बन्द हो गये और मस्जिदों में हलचल मच गई। लोग बड़े हैरान हुए और बड़े-बड़े पीर-पैगम्बरों ने इस पर विचार किया। पहुँचे हुए फकीरों ने कहा कि यह किसी हिन्दू के औलिया की करामात है। सबका ध्यान कबीरजी की ओर गया और यही निश्चय किया कि यह करामात कबीरजी की ही है। ७५वीं अष्टपदी में यह कथा आई है। इससे यह अनुमान होता है कि उस समय कबीरजी बहुत ही प्रख्यात हो चुके थे। मुसलमान पीर-पैगम्बरों से वे ही सब जगह टक्कर लेते थे।

इसके बाद ७६वीं अष्टपदी में सब मिलकर भेंट के साथ कबीरजी के यहाँ काशी गये यह उल्लेख हुआ है।

क़िरिया कुमा झिल जैगलूट। सिटणाभ मुल्ला मैसउट।
पइणं उपं डिवि तैष पुर। सैदाण सेणं वैस-पुर।
इर्वणुँ तकी दाते भड़ा। उकणात जेवा नेथड़ा।
अपसाहि कीटा मेवड़ा। संकाट खाटुं लेछुड़ा।२

पभराधि ! घट्टा लामुझा ।........................ ।
.... । हुप मुस्तफा किपबालभी ।

(प्र० पारिजातम् ७६ अष्टपदी)

सैयद, शेख, मुल्ला और मौमिन किंकर्तव्य विमूढ़ होकर व्यग्र हो गये। चारों ओर से कण्ठ बन्द होने के ही समाचार आते थे। अजान के बिना पाँचो काल की नमाज भ्रष्ट हो गई। इब्ननूर, तकी आदि मौलवियों ने मिलकर सलाह की इस करामात के छूटने के लिये काशी चलना चाहिये और जैसे राजी हों कबीरजी को राजी करना चाहिये। मुल्ला-मौलविओं को यह भी भय था कि यदि यह रोग दूर नहीं हुआ तो खूँखार हुआ बादशाह उन्हीं सबको मरवा डालेगा। सभी लोग मिलकर शीघ्रगामी सवारियों से राजाज्ञा के साथ काशी गये और वहाँ कबीरजी से मिले। उनके सामने बड़ी-बड़ी भेंटें रखीं और दया की उनसे भिक्षा माँगी। कबीरजी ने भेंटें नामंजूर कर दीं और आये हुए लोगों से कहा कि मुसलमानों ने पानी में आग लगाई हैं वह कैसे बुझाई जा सकती हैं। आये हुए लोगों ने कहा जो हुकुम होगा हम लोग सर-आँखों के बल पालन करेंगे। यदि यहाँ से दया नहीं हुई तो हम लोग मार डाले जायेंगे। इस पर सोच-विचारकर कबीरजी सबको लेकर आचार्यपाद के आश्रम पर गये। वहाँ पहुँचते हो शंख की ध्वनि हुई जिसे सुनकर सभी मुल्ला, मौलवी तथा शेख बेहोश होकर गिर गये। वे लोग ध्यान में देखने लगे कि उनका रसूल कहता है कि स्वामीजी के आदेश पर चलो। उसके बाद सब लोग होश में आये और घुटने टेककर बैठ गये। सब लोग आचार्य के हुक्म की प्रतीक्ष करने लगे।

इसके बाद ७७वीं अष्टपदो में आचार्य ने सबको आज्ञा दी है, वह निम्नलिखित है—

...विरदान घापरू। मुकुफार झिहणा छापरू।
माकूफ जेजिया थापरू। किचगाम दौण टापरू ।।१।

....

मुल्ला मुरब्बी पीरिसह। निवताप घूघा ऊह पह।
लिपिणा झिता डिसपादसह। छिपरां निमाजू चंभुजह।८।

(प्र० पा० अ० ७७वीं)

इस अष्टपटी में उपरोक्त १२ जजियाओं का नाम रखकर स्वामीजी ने अलग-अलग वर्णन किया है। पीछे आये हुए लोगों से कहा है कि यदि इनमें से एक भी जजिया रह गया तो मुसलमानों का उसके साथ ही नाश हो जायेगा। सभी आए हुए पीर-फकीरों ने स्वामीजी की आज्ञा सिर पर चढ़ाई और शीघ्र दिल्ली जाकर बादशाह से लिपिबद्ध क्षमापत्र लिखवाकर लाये और आचार्य रामानन्द स्वामीजी की सेवा में समर्पित किया। बादशाह की मुहर लगी हुई क्षमा याचना को पढ़कर स्वामीजी ने अपनी निग्रहाशक्ति हटा ली। मुसलमानों के संकट कट गये और हिन्दू लोग भी आनन्द को प्राप्त हुए। देश में आचार्य रामानन्द का यश इससे और भी चारों ओर फैल गया।।

मुसलमान बनाये हुए राजपूतों की पुनः शुद्धि

आगे चलकर आचार्य रामानन्द ने वैष्णव धर्म को और भी व्यापक रूप में बढ़ा दिया। कबीर के वैष्णव धर्म में प्रवेश होने से मुस्लिम शुद्धि का श्रीगणेश तो बहुत ही पहले हो चुका था परन्तु युग की पुकार पर आगे उन्हें उस पर अधिक और भी ध्यान देना पड़ा आचार्य अपने युग के ईश्वर थे। वे हिन्दुओं की सड़ी रूढ़ियों में कैसे बँध सकते थे। उन्होंने संकुचित उन सीमाओं को तोड़कर फेंक दिया जिनमें हिन्दू धर्म जकड़ा था। वे विश्व के सच्चे धर्माचार्य के रूप में खड़े हुए और उन्होंने धर्मभ्रष्टों की ओर ध्यान दिया।

'प्रसंग पारिजातम्' में स्वामीजी की महानता का और उदारता का का एक और भी वर्णन आया है।

आचार्य का यश चारों ओर दूर-दूर तक दिशाओं में फैल रहा था। उसे सुनकर एक 'गज सिंह' नाम का सूर्यवंशी राजपूत काशी आया। वह म्लेच्छों के द्वारा धर्मभ्रष्ट किया गया था। स्वामीजी की सेवा में उसने करुणाद्र निवेदन किया। "हे पतित पावन! आपका यश सुनकर मैं आपकी शरण में आया हूँ। मैं हरिसिंह का भतीजा हूँ। हरिसिंहजी अयोध्या के राजा थे और वैसाख सुदी दशमी, शनिवार वि० सम्वत् १३८१ को जूना खाँ तुग़लक के भय से अयोध्या का राजसिंहासन छोड़कर हरिभजन को तराई में चले गये परन्तु वहाँ भी उस दुष्ट ने जाकर बीसों हजार राजपूतों को धर्मभ्रष्ट कर दिया और दूसरे ही वर्ष वह दुष्ट अपने पिता को छल से स्वयं ही मारकर गद्दी पर बैठ गया। तब से हे प्रभो। ५० वर्ष हो गये और धर्मभ्रष्टों (मुसलमान बनाए हुओं) की संख्या बहुत बढ़ गई। विकल हुए हम सब बड़े-बड़े पण्डितों के पास प्रायश्चित के लिये गये परन्तु उन ऊँची पगड़ी वालों ने शुद्ध करने से इनकार कर दिया। हे करुणासागर! ऐसा कोई रोग नहीं जिसकी औषधि न हो, ऐसा कोई पाप नहीं जिसका कोई प्रायश्चित न हो। हे दीनदयाल! हम अवधवासियों का उद्धार अपनी चरण रज से कीजिये। इस प्रकार कहता हुआ गजसिंह स्वामीजी के सामने विलाप करके गिर पड़ा।" कोमल चित्त भगवान् द्रवीभूत हो उठे और गजसिंह को उठाकर सान्त्वना दी। स्वामीजी ने कहा—'पुत्र जाओ सभी धर्म भ्रष्टों से कह दो कि आज से तीसवें दिन सभी सरयूजी के किनारे आ जावें, वहीं उसी दिन प्रातःकाल सबकी शुद्धि होगी। मैं ठीक उसी दिन प्रातःकाल सरयू तट पर आ जाऊँगा और सबका उद्धार करूंगा।"

आचार्य भगवान् का आदेश पाकर गजसिंह आनन्द के साथ

अपने ठिकाने चला गया और सबको जाकर वहाँ सारा प्रसंग सुना दिया। सभी लोग उस समाचार से बड़े ही प्रसन्न हुए और उस दिन की प्रतीक्षा करने लगे जिस दिन उन्हें पतित पावन उद्धार करने को थे। नियत समय पर सभी सरयू तट पर जमा हो गये। आचार्य भमवान् भी ठीक समय पर वहाँ पहुँच गये। सभी धर्मभ्रष्ट स्वामीजी के दर्शन करते ही भूमि पर लोट गये। सबने वन्दना की और आचार्य के नाम की जय बोली। आचार्य ने सबको सरयूजी में स्नान की आज्ञा दी। सभी ने स्नान किया और आचार्य के सामने खड़े हो गये। तुरन्त आचार्य ने राम मन्त्र बोलकर शंख बजाया और सबको शुद्ध किया। राम मन्त्र सुनते ही सबके दिव्य संस्कार हो गये और सबके मुख पर हिन्दुत्व का तेज आ गया। सबने आचार्य के पवित्र नाम की बार-बार जय बोली। स्वामीजी ने पुनः सबको आशीर्वाद देकर विदा किया। सभी लोग "आचार्य भगवान रामानन्द की जय" बोल कर अपने स्थान को चले गये।

आचार्य ने यह शुद्धि १४३२, वि० सम्वत् में की थीं। जूना खाँ ने १३२४ ई० (वि० सम्वत् १३८१) में अयोध्या पर हमला किया और उसी के एक वर्ष बाद अपने पिता को धोखे से मारकर स्वयं १३२५ ई० (वि सं० १३८२) मुहम्मद तुग़लक के नाम से गद्दी पर बैठा ऐसे क्रूर बादशाह के राज्य होने पर हिन्दुओं की रक्षा आचार्य रामानन्द अपने स्वामी के द्वारा ही हो सकी थी।

मुसलमानी यन्त्रों पर रामानन्द का चमत्कार

विक्रम की १३, १४ और १५वीं शताब्दियाँ आध्यात्मिक चमत्कारों से व्याप्त थीं। उन युगों में मुसलमानों में भी बड़े-बड़े चमत्कारी फकीर हुए हैं। बहुत से तो उनमें से ऐसे भी सिद्ध फकीर हुए हैं जिनकी उस समय अद्भुत शक्ति देखी गई थी। उस समय उन सिद्ध फकीरों से भी इस्लाम के फैलाने में मदद मिली थी।

भारत में उन सिद्ध फकीरों ने भी घूमकर हिन्दुओं को मुसलमान बनाने का प्रयत्न किया था। कहते हैं कि किसी सिद्ध फकीर ने अयोध्यापुरी में एक ऐसा यंत्र लगाया था कि उसके नीचे से निकलने वाला हर एक हिन्दू तुरन्त मुसलमान बन जाता था। उसके सभी मुस्लिम संस्कार हो जाते थे और वह स्वयं भी अपने लिए मुसलमान कहने लग जाता था। इस प्रकार वहाँ हजारों मुसलमान बन गये। यह समाचार आचार्यपाद के पास काशी आया। वहाँ से उन्होंने अपने बड़े शिष्य अनन्तानन्दजी को श्रीअवध भेजा। अनन्ताजी श्रीअवध पहुँचे और वहाँ उन्होंने उन मुस्लिम यन्त्र के ऊपर आचार्य रामानन्द के नाम को लिखकर राममन्त्र से अभिमन्त्रित करके दूसरा यन्त्र बाँध दिया। उससे वह मुस्लिम यन्त्र झूठा पड़ गया। अनन्तानन्द के पहुँचने पर वह फकीर भी भाग गया। उसके बाद उस रामानन्द यन्त्र का ऐसा प्रभाव फैला कि उसके नीचे से जो भी मुसलमान निकला वही हिन्दू हो गया। इस तरह सभी हिन्दुओं से बने हुए मुसलमान पुनः हिन्दू बन गये और अपने घर चले गये। उस महान् यन्त्र के नीचे से बहुत से ऐसे भी मुसलमान निकलकर हिन्दू बन गये जो खास मुसलमान ही थे। उन हिन्दू बने हुए मुलमानों का स्वरूप और स्वभाव भी हिन्दुओं का सा हो गया। इस प्रसंग का संकेत कुछ भविष्यपुराण में आया है—

म्लेक्षास्ते वैष्णवाश्चसन् रामानन्द प्रभावतः
संयोगिनश्च ते ज्ञया अयोध्यायां बभूविरे।
कण्ठे च तुलसी माला जिह्वा राममयी कृता।
भालेत्रिशूल चिन्हं च स्वेत रक्तं तदाऽभवत्।

(भविष्य-पुराण, चतुर्थ खण्ड, तृतीय पर्व)

इसका भाव ऊपर आ गया है। यंत्र के नीचे से निकलकर बने हुए सभी हिन्दुओं को हिन्दू लोग अपने में नहीं मिला सकते थे, यह

कठिनाई अनन्तानन्दजी के सामने आई। उस समय उन्होंने 'संयोगी' नाम की एक नई जाति निर्धारित की, उसी के अन्दर उन सब मुसलमानों से बनाए हुये हिन्दुओं को रखा। 'संयोगी' जाति रामानन्द सम्प्रदाय के भीतर ही गृहस्थ वैष्णवों की एक जाति बनी और वह अब तक भारत में विद्यमान है। संयोगी जाति धर्म-कर्म के अन्दर हिन्दुओं में बड़ी उत्तम और पवित्र मानी जाती है। वर्तमान समय में वह सभी प्रान्तों में लाखों की संख्या में मिलती है। इस जाति के लोग वैष्णवधर्म का पालन करते हैं और राम को परात्पर ब्रह्म के रूप में अपना इष्टदेव मानते हैं। वर्ण-विभाग में संस्कारों को लेकर यह जाति ब्राह्मणवर्ग के समान है। खान-पान और क्रिया-कर्मों में तो यह इतर ब्राह्मणों से उत्तम है। इसके ऋषि रामानन्द हैं और गोत्र में भी यह रामानन्दी कहलाती है।

अनन्तानन्दजी ने—और भी जहाँ-जहाँ चेटकी फ़कीरों ने जिन हिन्दुओं को मुसलमान बनाया—जा जाकर उन्हें शुद्ध किया। हम पहले लिख चुके हैं कि आचार्य रामानन्द के शिष्य-प्रशिष्य उनकी आज्ञा पाकर सारी भारत भूमि पर उतर गये थे। उन्होंने भी व्यापक रूप से तात्कालिक बनाये हुए मुसलमानों को शुद्ध करके हिन्दू बनाया। वे सब उसी समय उनके प्रताप से हिन्दुओं में खप गये।

आचार्य रामानन्द के महान प्रताप से मुसलमानी फ़कीरों की चेटक भारत में नहीं जमने पाई। सम्पूर्ण भारत के मुख्य-मुख्य केन्द्रों में रामानन्दी सन्तों के अड्डे बने हुए थे। वे सब सभी जगह मुस्लिम उपद्रवों को रोकते थे। उन लाखों बने हुए अड्डों को हम आज भी लम्बे देश में देखते हैं। यह एक उज्ज्वल और महत्त्वपूर्ण इतिहास है। इसे बदलते हुए युगों के चक्र में लोग नहीं देखते।

आज हम इस युग में जो एक गौरव के राष्ट्र को लेकर खड़े हुए हैं, यह उसी युग की कृपा का फल है। आज हम भारत के नाम पर भारतीयों की आवाज सारे भूमण्डल पर अभिमान से भेज रहे हैं, यह रामानन्द के आशीर्वाद का फल है। यदि रामानन्द भूतल पर नहीं आते तो संसार की मानव-जाति में हिन्दू नहीं रहता। रामानन्द का मुस्लिम विप्लव रोकने का कार्य विक्रम की चौदहवीं शताब्दी के आरम्भ से चला और लगातार पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त तक चलता रहा। मुस्लिम शासन में शृंखलाबद्ध सही इतिहास नहीं लिखा गया, इसी कारण सार्वजनिक दृष्टि में वह इतिहास नहीं आया। आचार्य रामानन्द के राजनीतिक क्षेत्र के महान् कार्य भारतीयों के लिए चिरस्मरणीय हैं।

———

आचार्य रामानन्द का धार्मिक-क्षेत्र

आचार्य रामानन्द के काल में प्रजा के भीतर धार्मिक विद्रोह भी जड़ पकड़े हुए थे। अनेकों सम्प्रदाय हिन्दुओं के भीतर पारस्परिक द्वेष और घृणा को फैला रहे थे। यह भी एक रोग था जिसमें देश शक्तिहीन हो गया था। शून्यवाद और ब्रह्मवाद के निकम्मे प्रचारों में आर्य जाति की सन्तानें नपुंसक हो गई थीं। उनके भीतर से वह सत्त्व चला गया था जिसके बल पर बाहरी जगत हिलता था। दुर्भाग्य से तो देश पराधीन हुआ ही था परन्तु साम्प्रदायिक फूटों ने भी उसे पराधीन बनाने में सहायता दी थी। आचार्य रामानन्द के युग में बौद्ध-धर्म तो स्वयं ही संयमहीन होने से निस्तेज हो गया था परन्तु शंकर का ब्रह्मवाद चल रहा था। उसकी भी आधार-शिला बौद्धों के शून्यवाद के समान ही थी। यद्यपि उसकी आवाज नाममात्र से वैदिक थी परन्तु उसके भीतर भारतीय संस्कृति के संरक्षण की कोई भी वस्तु नहीं थी। दक्षिण से लक्ष्मीनारायण की उपासना को लेकर रामानुज की भक्ति का प्रवाह चला था परन्तु वह भी शैव-वैष्णव भयंकर विद्रोह को लेकर कलहाग्नि का रूप बन गया था। उस भक्ति का प्रचार दक्षिण की संकुचित सीमा से आगे नहीं बढ़ सका। वहाँ शैव-धर्म बलवान् था उसने रामानुज भक्ति को वहीं ग्रस लिया था। इधर कृष्ण-भक्ति का स्वरूप लेकर कई सम्प्रदाय खड़े हुए परन्तु उनका प्रभाव प्रजा के ऊपर उतना अच्छा नहीं पड़ा। भगवान् कृष्ण का जो रूप प्रजा के सामने आया वह शृङ्गार भावना में रँगा हुआ आया। उसने मनुष्यमात्र के हृदय को आकर्षित नहीं किया। लोक में शक्ति की उपासना भी चला रही थी और जगदम्बा के सामने असहाय जीव काटे जातेथे

भारत में यह भी शक्तिशाली मत था क्योंकि इसे मांसाहारी विद्वान् ब्राह्मणों का बल मिला था। अघोर मत—जिसमें मुरदों को खाया जाता था और मंत्रों का सिद्ध किया जाता था—बहुत से प्रान्तों में जोर पकड़ रहा था। इस प्रकार और भी अनेक मत चल रहे थे और भारत के धार्मिक क्षेत्र को निर्बल बना रहे थे। एक मत दूसरे मत का खण्डन कर रहा था और एक सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदाय को बुरा बना रहा था। यही सब इस लम्बे देश में हो रहा था। इसे महान् आचार्य रामानन्द ने अपने युग में देखा।

आचार्य रामानन्द के उदय से धार्मिक क्षेत्र में एक नई लहर आई थी। प्रजा को उन्हें पहचानने में अधिक विलम्ब नहीं लगा था। उनके दिव्य लोकोत्तर चरित्रों से वह आकर्षित हो चुकी थी। प्रजा स्वाभाविक ही यह समझने लगी कि आचार्य रामानन्द ही उसके सच्चे धर्माचार्य हैं। रामानन्द के उज्ज्वल प्रकाश में उसे शान्ति भी मिल रही थी। उन्होंने विभिन्न मत विवादों में विभाजित प्रजा को अपने विचारों की ओर खींचा। उनके विचारों में राग-द्वेष अथवा घृणा और निन्दा नहीं थी। उनका वह पवित्र मार्ग था जिसमें किसी प्रकार की भी शंका नहीं थी। उन्होंने राम का आदर्श संसार के सामने रखा। यह कोई नया विचार नहीं था, भारतीय संस्कृति के प्राचीन मुनियों का यह पवित्रतम मार्ग था। काल के दुरतिक्रम में पड़ कर, मत विवादों के अन्दर वह कुछ धुँधला-सा पड़ गया था। रामानन्द के राम लोकरक्षक और पतितपावन थे। परात्पर ब्रह्म होते हुए भी वे मर्यादावतार थे। उनके चरित्रों में प्रजा के जीवन की बड़ी सुन्दर सामग्री थी। प्रजा ने उसे बड़े वेग से अपने नित्य जीवन में अपना लिया। रामानन्द ने किसी धर्म या किसी देव या किसी मत का खण्डन नहीं किया। उन्होंने अपने ही सरल विचार प्रजा को समझाये। उनके इष्टदेव राम में सभी धर्मों

का, सभी देवों का तथा सभी मतों का समन्वय था। रामानन्द का मार्ग सरल रामभक्ति का मार्ग था। उसमें सभी वर्ग के प्राणियों के प्रवेश का अधिकार था। उसमें किसी प्रकार की कट्टरता या किसी प्रकार का आडम्बर नहीं था। यही कारण था कि वह वेग से लोक में सर्वप्रिय बन गया।

आचार्य रामानन्द का भारत में जो प्रचार हुआ सम्भवतः वह चार हजार वर्षों से इधर किसी भी धर्म-संस्थापक या धर्माचार्य का नहीं हुआ। रामानन्द के नाम पर एक विशाल सम्प्रदाय आज भी भारत में फैल रहा है। वह विरक्तों का दल है और लोग उसे 'विरागी' सन्तों या रामादल के सन्तों के नाम से पहचानते हैं। ये सन्त सारे भारत में रामोपासना का प्रचार करते हैं। राम इस देश में कितने प्रिय हैं यह तो देश के नर नारी ही जानते हैं। यही सब रामानन्द स्वामी की देन है जो धार्मिक क्षेत्र में चमकती है।

काशीपुरी में आचार्य पीठ

स्वामी रामानन्दजी महाराज की आचार्य पीठ काशीपुरी में थी। वहीं से सारे भारत का धार्मिक क्षेत्र सम्हाला जाता था। आचार्य रामानन्द श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के आचार्य थे। उनकी पीठ काशी में शिवजी की पुरी के अन्दर क्यों हुई ? यह तो शैवों के लिये उपर्युक्त स्थान था यहाँ एक प्रश्न आ सकता है। इसका समाधान यह है कि काशी शिव की पुरी होते हुए भी राममयी है। काशी के भगवान् विश्वनाथ राम नाम के अनन्य जापक हैं और उसी जप के आधार पर काशीपुरी बसाई गई है, इसलिये यह रामभक्तों की पवित्र पुरी है। भगवान् शंकर काशीपुरी में प्रत्येक प्राणी को मोक्ष प्रदान करते हैं, वह रामनाम के प्रताप से ही। जब कोई प्राणी काशी में शरीर त्यागता है, ठीक उसी समय भगवान् शिव उसके कान में रामतारक मंत्र सुनाते हैं और उसे मोक्ष प्रदान करते हैं,

यह काशी का प्राचीन इतिहास है गुसाईं तुलसीदासजी ने भी इसका समर्थन किया है।

'जासु नाम बल शंकर काशी।
देत सबहिं सम गति अविनाशी ॥'

(रामचरितमानस)

अतः परम्परा से काशी रामभक्तों की पुरी है और इसी कारण वहाँ श्रीसम्प्रदाय की प्रधान पीठ—जिसके आचार्य स्वामी रामानन्दजी हुए—काशीपुरी में ही थी।

इस समय वह विशाल और पावन पीठ काशी में नहीं है केवल उसकी स्मृति मात्र है। बीच में काल का चक्र भारत में बार-बार घूमा और वह आचार्य रामानन्द के परमधाम जाने के बहुत काल बाद फिर काशी में घूमा। उसी में वह पीठ मुसलमान बादशाहों द्वारा तोड़ डाली गई। वह पीठ ही नहीं भगवान् विश्वनाथ का मन्दिर भी तोड़ डाला गया। पंचगंगा घाट काशी में इस वर्तमान समय में आचार्यपाद रामानन्द की केवल चरणपादुका बनी हुई है। वही सन्तोष के लिये संसार की स्मृति में आ सकती है। देश लम्बे युगों के बाद गुलामी से छूटा है सम्भव है अब वह रामानन्द के महान् ऋण पर विचार करे। उस पीठ के सम्बन्ध में हम डा० विल्सन की एक ऐतिहासिक पुस्तक का उद्धरण प्रमाण के लिये देते हैं।

Essays and lecture chiefly on the Religion
of the Hindus, Vol. I. By
H. H. Wilson M. A. F. R. S.

The residence of Ramanand was at Benares at the Panchganga ghat where a Math or monestory of his followers is said to have existed but to have been

destroyed by some of the Musalman princes. At present there is a merely stone platform in the vicinity bearing the supposed impression of his feet. But There are many maths of his followers of celebrity at Benares whose Panchayat or council is the chief authority amongst the Ramavats in upper India.

यह डा० विल्सन साहब का लेख है। इसे उन्होंने हिन्दू-धर्म के इतिहास में लिखा है। इसका सारांश नीचे है।

श्रीरामानन्द स्वामी के रहने का स्थान काशी के पंचगंगा घाट पर था। वहाँ उनके अनुयायियों का एक श्रीमठ था, जिसे मुसलमान बादशाहों ने तुड़वा डाला। वर्त्तमान समय में उसी मठ के समीप एक पत्थर के चबूतरा पर उनकी चरणपादुका बनी हुई है। वहाँ काशी में रामानन्द सम्प्रदाय के और भी बहुत से मठ बने हुए हैं जिनमें उनके प्रख्यात अनुयायी रहते हैं और जिनकी एक प्रधान पंचायत बनी है जिसका प्रभुत्व भारत के रामानन्दियों पर प्रधान रूप से है।

मुसलमानों की बुरे शब्दों में जो निन्दा हुई है वह सर्वांश में सही ही हुई है। उन्हें सज्जनों ने राक्षस वृत्ति का कहा है वह इसीलिये कहा है कि उन्होंने बड़ी-बड़ी सुन्दर और पवित्र कृतियों को नष्ट किया है। जितने अमानुषी कृत्य होते हैं सब उन्होंने किये हैं। आचार्य रामानन्द की वह विशाल और पवित्र पीठ आज हमें देखने को नहीं मिलती है यह उन्हीं के दुष्कृत्य हैं।

रामानन्द की पीठ तोड़कर भी मुसलमान हिन्दू-धर्म को नहीं मिटा सके। इसलिये कि सारे भारत में रामानन्द के प्रतापी शिष्य-प्रशिष्यों के हजारों मठ बने हुए थे। वे सब जगह में हिन्दू-धर्म की रक्षा करते थे। उन्हें आचार्य की जो आज्ञा थी उसी की पूर्ति में वे

सब लगे रहे। पीठ के न होने पर भी उनके कोई काम नहीं रुके। पीठ पुनः बनाना उन्होंने अधिक आवश्यक नहीं समझा, उन्होंने उस क्रूर सल्तनत को ही मिटा देना आवश्यक समझा, उसी में वे लगे रहे और हिन्दू राष्ट्र के निर्माण की योजना बनाते रहे। उन्होंने मुसलमानी काल चक्र पीछे ढकेला और हिन्दू जगत को बचा लिया। युग आयेगा जिनमें इन बातों की अच्छी तरह खोज होगी। अभी हम रामानन्द के ही संक्षिप्त कार्यों का परिचय दे रहे हैं।

रामानन्द और विशिष्टाद्वैत

आचार्य रामानन्द का सिद्धान्त परम्परा के अनुसार विशिष्टाद्वैत है। विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के अन्दर चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म का प्रतिपादन हुआ है चित् = जीवतत्व, अचित् = माया तत्व तथा ब्रह्म = सर्वव्यापक-सर्वनियन्तापरमतत्व ये तीन तत्व अनादिकाल से नित्य साथ रहते हैं। इनका परस्पर व्याप्य और व्यापक सम्बन्ध है इनके विषय में अपने शिष्यों को आचार्य रामानन्द ने निम्नलिखित उपदेश दिया है।

पृष्टानामेक माद्यं त्रिकमपि श्रुणु तद् भेदतो नाम भेदै—
नित्याऽज्ञाऽचेतना सा प्रकृति रविकृति विश्वयोनिशुभैका।
ना ना वर्णत्मकाऽजा त्रिगुण सुनिलया व्यक्त शब्दाभिधेया।
निर्व्यापारा परार्था महदहमिति सूरुच्यते तत्त्व विद्भूः।

(श्रीवैष्णवमताब्जभास्करः)

बहुत से प्रश्नों में से प्रथम प्रश्न का उत्तर आचार्य भगवान् दे रहे हैं। ब्रह्म परमतत्व है, वह तीन तत्त्वों के रूप में साथ ही रहता है। नाम भेद से वह चित् अचित और ब्रह्म संज्ञा वाला कहलाता है। तत्ववेत्ता महर्षियों ने अचित् रूप को इस प्रकार कहा है। अचित् = मायातत्त्व है, उससे विश्व उत्पन्न होता है। वह एक है, नित्य है, शुभ है तथा जड़ है, ज्ञान शून्य है और विकार रहित भी है। उसे सत्-रज-तम मिश्रित अनेक वर्ण वाली प्रकृति भी कहते हैं। स्वयं तो वह प्रकृति व्यापार शून्य हैं परन्तु भगवान् के आधीन रहकर वह सृष्टि रचना भी करती है। अहंकार और महतत्व उसी से उत्पन्न होता है। कहीं-कहीं उसे अव्यक्त और प्रधान भी कहते हैं। यह अचित् तत्व का स्वरूप है।

चित्तत्त्व

नित्योऽज्ञश्चेतनोऽजः सततपरवशः सूक्ष्मतोऽत्यन्त सूक्ष्मो,
भिन्नो वद्धादि भेदैः प्रतिकुण पमसौ नैकधा सूरि वर्थैः।
श्रीशाक्रान्तो लयस्थो निज कृति फलभुक्तत्सहायोऽभिमानी
जीवः सम्प्रोच्यते श्रीहरिपदसुमते तत्त्व जिज्ञासु वेद्यः।

अपने शिष्य सुरसुरानन्दजी को सम्बोधन करके आचार्यपाद रामानन्द स्वामीजी कहते हैं, हे राम के चरणों में प्रेम रखने वाले वत्स ! जो नित्य है, एक रस है, अज है, चेतन है, पर सर्वज्ञ नहीं हैं, भगवान् के आधीन है, सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है, प्रति शरीर में भिन्न है तथा नित्य, मुक्त और बद्ध आदि भेदों से तीन प्रकार का है। भगवान् के साथ व्याप्य और व्यापक सम्बन्ध से सदैव रहता है। कर्म फल भोक्ता है, मैं कर्त्ता, मैं भोक्ता यह अभिमान रखने वाला है। इस प्रकार जो जिज्ञासुओं के जानने योग्य है उसे विद्वान् लोग चित् (जीव) तत्त्व कहते हैं।

ब्रह्मतत्त्व

विश्वं जातं यतोऽद्धा यद वितमखिलं लीनमप्यस्ति यस्मिन्।
सूर्य्यो यत्तेजसेन्दुः सकलमविरतं भासयत्येतदेषः॥
यद्भीत्या वाति वातोऽवनिरपि सुतलं याति नैवेश्वरोज्ञः।
साक्षी कूटस्थएकोवहुशुभगुणवानव्ययो विश्वभर्त्ता॥

(श्रीवैष्णवमताब्जयथास्कर)

जिस परमात्मा से यह सारा जगत उत्पन्न हुआ है, जिससे पालित है और जिसमें फिर लीन हो जाता है, जिसके तेज से चन्द्र और सूर्य रात दिन के विभाग से समस्त विश्व को प्रकाशित करते

हैं, जिसके भय से पवन चलता है और पृथिवी भी पाताल नहीं चली जाती, जो सर्वज्ञ और सबके कर्मों का साक्षी है, सर्वव्यापक, सर्वगुण सम्पन्न, अद्वितीय, अविनाशी और जो सारे भूमण्डल का स्वामी है उसे ब्रह्म कहते हैं।

इन तीन तत्वों का विवेचन रामानन्द स्वामी ने विशिष्टाद्वैत मत के अनुसार किया है। इनमें जीव और ब्रह्म अपने-अपने स्वरूप में सदा एक रूप ही रहते हैं, केवल मायातत्व स्थूल-और सूक्ष्म भेद से दो प्रकार का हो जाता है। मायातत्व विशिष्ट होने से ब्रह्म भी स्थूल विशिष्ट और सूक्ष्म विशिष्ट दो प्रकार का कहलाता है परन्तु इन दोनों प्रकारों में अभेद माना गया है। जीव तत्व व्याप्य सम्बन्ध से ब्रह्म की दोनों स्थूल और सूक्ष्म अवस्थाओं में साथ ही रहता है अतः स्थूल और सूक्ष्म विशिष्ट धर्म में यह भी आ जाता है। इसी भाव से विशिष्टाद्वैत शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार हुई है। "विशिष्टञ्च विशिष्टञ्च विशिष्टे तयो अद्वैतः विशिष्टाद्वैतः"। दो बार व्युत्पत्ति में विशिष्ट विशिष्ट कहने का आशय है सूक्ष्म चिदचिद् विशिष्ट और स्थूल चिदचिद् विशिष्ट ब्रह्म। इन दोनों ब्रह्म के रूपों में अद्वैतः अभेद है। ब्रह्म दो नहीं हैं एक ही हैं। माया-तत्व के विशिष्ट होने से ही दो भेद कहे गये हैं वस्तुतः ब्रह्म एक ही है।

प्रलयकाल में ब्रह्म सूक्ष्म विशिष्ट हो जाता है और सृष्टिकाल में स्थूल विशिष्ट रहता है। व्याप्य धर्म वाला होने के कारण जीव तत्व, प्रलयकाल में भी सूक्ष्म बिशिष्ट ब्रह्म के साथ ही रहता है। इस प्रकार ब्रह्म, जीव और माया इन तत्वों को साकार और निराकार के रूप में श्रुतियों ने अनेक स्थलों पर प्रतिपादन किया है। विशिष्टाद्वैत मत में ब्रह्म सदैव विशिष्ट रहता है चाहे वह सूक्ष्म विशिष्ट हो चाहे वह स्थूल विशिष्ट हो।

रामानन्द सम्प्रदाय ब्रह्म के दोनों स्वरूपों को मानता है परन्तु उसकी उपासना साकार ब्रह्म के रूप पर ही खड़ी हुई है। निराकार ब्रह्म का उपयोग उपासना में नहीं होता इस कारण उसके तरफ उसका झुकाव नहीं है। विचारों के अन्दर यदि कहीं निराकार ब्रह्म का वर्णन हुआ है तो उससे रामानन्द सम्प्रदाय को विरोध भी नहीं है। कहीं-कहीं तो रामानन्द सम्प्रदाय के महापुरुषों ने स्वयं ही परमात्मा के गुणगान में निराकार तत्व का भी गुण गा दिया है। वहाँ उनका यही भाव रहा है कि उनका भगवान् निराकार तत्व से भिन्न नहीं है।

रामानन्द सम्प्रदाय की दार्शनिक सामग्री—जो बहुत ही महत्व-पूर्ण थी—काशी की आचार्य पीठ के साथ नष्ट हो गई, फिर भी उसके कोष में सन्तोष के लिये बहुत कुछ है। इन सब बातों के होते हुए भी रामानन्द सम्प्रदाय का उपासना क्षेत्र विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के अनुसार बड़ा ही सुन्दर है। सम्प्रदाय के हर एक मठ-मन्दिर में श्रीराम, जानकी और लक्ष्मण की प्रतिमाएँ विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के प्रतीक में स्थापित होती हैं। राम परात्पर ब्रह्म तत्व हैं, जानकीजी पराशक्ति के रूप में हैं और लक्ष्मण, भगवान् की आज्ञा में रहनेवाले शेष जीव रूप में हैं। इस प्रकार सम्प्रदाय का प्रत्येक उपासना मन्दिर लोक में विशिष्टाद्वैत की ध्वजा लेकर खड़ा हुआ है। तीन तत्वों की आवाज विशिष्टाद्वैत ने दी है और ये ही तीन तत्त्व श्रीसम्प्रदाय के अन्दर उपासना के रूप में लिये गये हैं। अतः श्रीसम्प्रदाय का और विशिष्टाद्वैत का घनिष्ट सम्बन्ध है।

विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के विचारों के साथ जीव और ब्रह्म की पृथकता सिद्ध होती है। यह पृथकता प्राणियों की आत्मोन्नति में बड़ी ही सहायक होती है। कर्मभूमि के बन्धन से छूटने के लिये उपासना के क्षेत्र में जीव पृथक होकर ही खड़ा होता है। भगवान् की कृपा का सहारा भी उसे जभी होता है जब वह भगवान् को

सर्व-समर्थ जानकर उनकी शरण ले लेता है और उन्हें प्रथकतः अपना प्रभु समझता है। सत्कर्मों में भी जीव की प्रवृत्ति तभी होती है। जब वह दुष्कर्मों के बन्धन में अपने को बँधा हुआ मानता है। स्वर्ग और नरक, जन्म और मरण, ये सब विचार भी जीवों को कर्मभूमि में खड़ा करते हैं परन्तु यहाँ भी पृथक भावना प्रधान है। इस विवाद से निष्कर्ष यह निकलता है कि विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त ही जीवों को कर्मकाण्ड और उपासनाकाण्ड दोनों ही में खड़ा करता है। अतः यह सिद्धान्त प्राणीमात्र के लिये मानव जाति में अत्यन्त उपयोगी है। स्वामी रामानन्दजी महाराज ने इसी महान् सिद्धान्त के भीतर खड़े होकर इसी कारण अपने पवित्र सम्प्रदाय का संसार को उपदेश दिया। यह उनका ऐतिहासिक सिद्धान्त सम्बन्धी परिचय है।

आचार्य रामानन्द और उनका वैष्णवधर्म

आचार्य रामानन्द की परम्परा में वैष्णव धर्म स्वीकार हुआ है। विश्वप्रेम के सम्बन्ध में यह धर्म बहुत ही पवित्र माना गया है। इस धर्म में किसी भी प्राणधारी जीव की हिंसा महान् पाप समझी गयी है। रामानन्द सम्प्रदाय ने इस विचार को सर्वप्रथम, स्थान दिया है। जो कोई भी रामानन्द सम्प्रदाय में प्रवेश करता है उसके लिये मांसाहार न करने की प्रतिज्ञा करनी पड़ती है। सम्प्रदाय की कण्ठी—जो तुलसी काष्ठ की बनी हुई होती है—यही सूचित करती है कि शुद्ध भोजन करो, सत्य बोलो और किसी भी जीव को मत सताओ।

विष्णुपरक किसी भी विग्रह की उपासना करने वाले को वैष्णव कहते हैं तथा जिस धर्म में विष्णुपरक किसी भी विग्रह की उपासना हो उसे वैष्णव धर्म कहते हैं। विष्णु शब्द विश् प्रवेश ने धातु से बना है जिसका अर्थ व्यापक ब्रह्म होता है। रामानन्द सम्प्रदाय ने इस विष्णु शब्द को राम का परियाय माना है। राम शब्द भी रमु क्रीड़ा धातु से बना है उसका अर्थ भी व्यापक ब्रह्म होता है, अतः परात्पर ब्रह्म वाचक विष्णु शब्द से राम का ही बोध होता है। इसी भावना से उपासना काण्ड में वैष्णवधर्म रामानन्द सम्प्रदाय ने स्वीकार किया है। बहुत से पिछले रामानन्दी विद्वान् इसी वैष्णव-धर्ण को 'सीतारामीय' धर्म भी कहते थे। उसी प्रकार वे वैष्णव धर्म का सूचक 'सीतारामीय' शब्द अपने नाम के साथ लिखते थे। उपासना के अन्दर अपनी इष्टभावना के साथ वैष्णव तथासीता-रामीय दोनों शब्द धर्म और व्यक्ति के स्थान में ग्रहण हो सकते हैं।

जहाँ उपासना के अन्दर विष्णु विशिष्ट देवता अंश रूप में स्वीकार हुए हैं वहाँ उन्हें राम का अंश ही मानते हैं परियायवाची

विष्णु नहीं मानते। जैसे 'प्राण' शब्द प्रकरण भेद से कहीं ब्रह्म वाचक हो जाता है और कहीं मुखान्तर्वर्ती वायु का बोधक होता है।

कतमा सा देवतेति, प्राण हो वाच।

'सर्वाणि हवा इमानि भूतानि प्राण-
मेवाभि संविशन्ति, प्राण मभ्युज्जिहेत।'

उद्गीथ प्रकरण में प्रस्तोता ने चाक्रायण से पूछा, वह देवता कौन है, उन्होंने उत्तर दिया, 'वह देवता प्राण है, प्राण ही से समस्त भूतों की उत्पत्ति होती है तथा प्राण ही में सब का लय हो जाता है। यहाँ प्राण को मुखान्तर्वर्ती वायु नहीं माना, परात्पर ब्रह्म माना है। इसी प्रकार विष्णु शब्द को भी प्रकरण भेद से दो प्रकार का जानना चाहिये। दूसरे प्रकरण में भी इन्द्र शब्द राम का परियाय माना गया है। जब कि एक अर्थ में वह इन्द्र विशिष्ट देवता के रूप में स्वीकार हुआ है।

विश्वामित्रा अरासत् ब्रह्मेन्द्राय,
वज्रिणे कर दिन्नः सुराधसः।

(ऋ० ३ अ०, अ० ३, व० २१)

एवमुक्ति पूर्वकं याज्ञे साधिते रामे विश्वामित्रानुग्रहममा—विश्वामित्रा इति, विश्वामित्राः = ऋषयः, ब्रह्म = महतीं विद्यां बलातिबलाख्यां, इन्द्राय = रामाय, अरासत = दत्तवन्तः। वज्रिणे = महा मणि धारिणे, की दृशं ब्रह्म नः = अस्मान्, सुराधसः-शोभन सिद्धि युक्तानेव, करत = कुर्वन्। (मन्त्र रामायणे, नीलकण्ठ भाष्यम्)

यज्ञ की रक्षा के लिये गये हुए राम को ऋषियों ने बला और अतिबला नाम की महान् विद्यायें प्रदान कीं। महान् रत्न धारण करने वाले राम से पुनः कहा, 'ये विद्यायें हमें सुन्दर सिद्धियाँ देती हैं। यहाँ इन्द्र शब्द से राम का ग्रहण हुआ है और दूसरे अर्थ में

प्रकरण भेद से इन्द्र शब्द इतर देवता वाची होता है। इसी प्रकार विष्णु शब्द को भी जानना चाहिये।

रामानन्दी वैष्णवी धर्म में पंच संस्कारों का विधान है। तुलसी की कण्ठी, उर्ध्वपुण्ड्र तिलक, तप्त मुद्रा छाप, मन्त्रोपदेश तथा भगवत् सम्बन्धी नाम, पञ्च-संस्कार वैष्णव को धारण करने पड़ते हैं। ये सब चिह्न वाह्य और अभ्यन्तर शुद्धियों में उपयोग देते हैं।

वैष्णवधर्म के ये संस्कार प्रायः सभी विरक्त वैष्णव सम्प्रदायों में एक से ही हैं। उपासना मंत्रों में अवश्य अन्तर है और वह भिन्न-भिन्न उपास्य देवों के कारण होता है। राम के उपासकों का राममन्त्र है तथा कृष्ण के उपासकों का कृष्ण मंत्र है या कृष्ण के ही स्वरूप भेद से दूसरे गोपालादि मंत्र हैं।

वैष्णवधर्म ने अहार की शुद्धि पर अधिक जोर दिया है। वैष्णव के भण्डार में किसी प्रकार का भी तमोगुणी पदार्थ बनने के लिये नहीं जाता। यहाँ तक कि लहसुन और प्याज भी उनके यहाँ निषेध है। वैष्णवी भण्डार में जो कुछ पदार्थ बनता है उसे भगवान् को भोग लगाये बिना कोई भी वैष्णव ग्रहण नहीं करता। भगवान् को भोग लगाते समय थाल में रखे हुए पदार्थों में तुलसी दल छोड़ा जाता है। उसके बाद सभी वैष्णव मिल कर उस प्रसाद को ग्रहण कर लेते हैं। तुलसी पत्र की वैष्णवधर्म में बहुत बड़ी मान्यता है। बिना तुलसीदल के पड़े कोई भी पदार्थ भगवान् का प्रसाद नहीं बनता, ऐसी ही सभी सम्प्रदायों के वैष्णवों की प्राचीन प्रथा है।

वैष्णवधर्म का सबसे प्रधान अंग अहिंसा व्रत भी है। हिन्दू शास्त्रों में इस अहिंसा वृत पर बहुत कुछ लिखा गया है। आचार्य रामानन्द ने तो अपने वैष्णवोंधर्म में अहिंसा को सर्वप्रथम स्थान दिया है। यथा—

एवं तेऽभिहितं वत्स ! प्रकृष्टं मुक्ति साधनम्,
उत्तमं सर्व धर्माणां शृणु धर्मं सनामनम् ॥१॥

दानं तपस्तीर्थ निषेवणं जपो, न चास्त्य-हिंसा
सदृशी शुभाकृतिः ॥२॥
हिंसा मतस्तां परिवर्जयेज्जनः, सुधर्म निष्ठो दृढ
धर्मवृद्धये ।
श्रियन्ति धर्मास्तु तथा पृथक् स्थितान्, सुवक्रगाः
सिन्धुमिवापि निम्नगाः ।
काष्ठस्थ बन्हेरिव घातकी हरे, चराचरस्थस्य च
जन्तु हिंसकः ॥३॥
जलस्थलोत्पन्न शरीर हिंसया, विवर्जयेन्मांस
मुदार धीः सदा ।
दयापरोऽधो गति हेतु रूपया, चिरायलभ्यं भव
भी निवृत्तये ॥४॥
शुभानि कर्माणि समर्पयेत्सदा, रामाय भक्ष्यं च
निवेद्य भक्षयेत् ।
अर्हादिवं वीत भयः समुत्तमं, विमुक्ति धीः स्वाघ
निवृत्ति कामनः ॥५॥

(श्री वैष्णवमताब्जभाष्करे पंचम प्रश्नः)

प्रमुख शिष्य सुरसुरानन्दजी के धर्म सम्बन्धी प्रश्न के उत्तर में आचार्यपाद रामानन्द स्वामीजी ने कहा। 'वत्स! मुक्ति का साधन हमने तुम्हें बताया अब सब धर्मों में उत्तम धर्म को सुनो जो सनातनधर्म कहलाता है। यहाँ आचार्य ने वैष्णव धर्म को ही सनातन (अनादि) धर्म कहा है।

संसार में अनेक शुभकर्म, दान तप, तीर्थ निवास तथा जप आदि हैं परन्तु अहिंसा व्रत से उत्तम कोई भी दूसरा शुभकर्म नहीं

है। इसलिए धर्म में निष्ठा रखने वाले महानुभाव अपने धर्म को दृढ़ करने के लिए उस हिंसा पाप को सर्वथा छोड़ कर अहिंसक बने।२।

जैसे अत्यन्त कुटिल चलने वाली नदियाँ भी समुद्र को प्राप्त होती हैं वैसे ही हिंसा त्याग देने वाले पुरुष को सभी शुभ धर्म प्राप्त करते हैं। भगवान् सभी चर और अचर में व्यापक हैं जैसे काष्ठ में अग्नि व्यापक रहती है। जो जीव हिंसा करते हैं वे अपने प्रभु का ही घात करते हैं।३।

इसलिये उदार बुद्धि वाले दयावान् उन वैष्णवजनों को चाहिये कि जल के अन्दर रहने वाले तथा स्थल में उत्पन्न होने वाले प्राण-धारी जीवों की हिंसा के द्वारा प्राप्त हुए मांस का खाना सदा के लिये छोड़ दे यदि वे संसार की दुर्गति के भय से बचना चाहते हैं।४।

यदि वस्तुतः अपने जन्मान्तरीय पापों से छुटकारा पाकर जो महानुभाव मुक्ति की इच्छा करते हैं वे अपने सभी शुभ कर्मों को प्रभु राम को समर्पण करे तथा उन्हीं के नैवेद्य रूप भोग लगे हुए पदार्थ को ग्रहण करें इस प्रकार नित्य नियम करने से वे निश्चय संसार के भय से छूट जायेंगे।

आचार्य रामानन्द स्वामी ने अपने 'वैष्णवमताब्जभास्कर' में धर्म का तत्व वर्णन करते हुए अहिंसा को सर्वोत्तम धर्म माना है। उनके कहने का आशय यह है कि चराचर जीवों में अपने प्रभु ही विराजमान हैं। यदि किसी भी जीव की हिंसा हुई तो वह अपने प्रभु की ही हिंसा समझी जायगी। प्रभु को कष्ट देने के अपराध से यदि बचना है तो अहिंसा व्रत को अपनाना चाहिए। धर्म के बहुत से अंग हैं परन्तु उनमें से अहिंसा एक ऐसा अंग है, जिसकी साधना से मनुष्य के भीतर और दूसरे सभी धर्म के अंग आप ही आप आ जाते हैं। जिसने अहिंसा व्रत पालन नहीं किया उसके भीतर धर्म का सत्व अंश नहीं रहता है।

रामानन्द सम्प्रदाय के वैष्णवधर्म को सभी वर्ग के मनुष्य धारण करने में समान अधिकार रखते हैं। किसी को वहाँ रोक-टोक नहीं है और न उसमें कुछ कट्टरता ही है। वैष्णवधर्म में सभी वर्ग के प्राणी सम्मिलित हुए भी हैं परन्तु जो उसमें शामिल हुए हैं उन्होंने उसे यथार्थ रूप से पालन भी किया है। पिछली बीती हुई शताब्दियों में श्रीवैष्णव धर्म ने हिन्दुत्व की बड़ी रक्षा की है। कबीरजी ने तथा रैदासजी ने भारत के गिरे हुए निम्न-वर्ग को इसी धर्म में शामिल किया है। देश के विभिन्न प्रान्तों में कबीरपंथी और रैदासियों के नाम असंख्यों की संख्या में मिलते हैं। वे सब गृहस्थ परिवारों में हिन्दुओं के भीतर अब भी पवित्र जीवन बिताते हैं।

श्रीवैष्णवधर्म के प्रचारक बड़े-बड़े महापुरुष हुए हैं और इसी के द्वारा उन्होंने एकता की है। ऐतिहासिक आधार पर हिन्दू राष्ट्र के बीजारोपण में यह धर्म बड़ा ही सहायक हुआ है। राष्ट्र के आदि-निर्माताओं (रामानन्द, कबीर, तुलसी और समर्थ रामदास आदि महापुरुषों) ने इसी के भीतर से किसी दिन राष्ट्र के जन्म के लिए शंख फूंका था। यह रामानन्द का वैष्णवधर्म है।

आचार्य रामानन्द और श्रीसम्प्रदाय

स्वामी रामानन्दजी महाराज श्रीसम्प्रदाय के मध्यमाचार्य हुए हैं। श्रीसम्प्रदाय रामोपासकों का एक विशाल और बहुत ही प्राचीन सम्प्रदाय है। इसमें जब आचार्य रामानन्द का प्रादुर्भाव हुआ तब इसका और भी व्यापक प्रचार हुआ। प्राचीन साम्प्रदायिक रहस्यों को स्वामीजी ने अपने युग की नवीन पद्धति में जोड़ दिया। इस कारण उसकी और भी प्रगति हुई। भारत के लोग इसे आगे चलकर रामानन्द सम्प्रदाय के नाम से ही पहचानने लगे।

श्रीसम्प्रदाय की अद्याचार्या श्रीजी हैं और वे ही इस सम्प्रदाय की प्रवर्तिका ऋषि कहलाती हैं। आशय यह है कि यह सम्प्रदाय श्रीजी से आरम्भ होता है और उत्तरोत्तर लोक में फैलता है। इस इतिहास को हम आगे लिखेंगे, यहाँ पर पहले श्रीजी पर विचार करना है।

श्रीजी, परा अनादि शक्ति का नाम है। वे परात्पर ब्रह्म राम के नित्य साथ रहती है। अवतार काल में वे ही मर्यादा पुरुषोत्तम राम के साथ सीतारूप में आती हैं। सीतोपनिषद् में इसी प्रकार कहा है।

श्रीराम सान्निध्य वशाज्जगदानन्द कारिणी, उत्पत्ति स्थिति संहारकारिणी सर्वदेहिनाम्, सीता भगवती ज्ञेया मूल प्रकृति संज्ञिता। प्रणवत्वात् प्रकृतिरिति वदन्ति ब्रह्मवादिनः'। (इति सीतोपनिषद्)। भगवती श्रीजी राम के समीप नित्य रहने के कारण जगत् को आनन्द देनेवाली हैं। चराचर विश्व के प्राणियों की उत्पत्ति, रक्षा तथा विनाश करने वाली भी वे ही हैं। उन्हें ही भगवती सीता जानो। यह श्रीजी का उपनिषद् ने परिचय दिया है। इस आधार पर श्रीजी और सीताजी एक ही हैं। इन्हीं श्रीजी को ब्रह्मवादी

लोग मूल प्रकृति कहकर प्रणव (ओंकार) का रूप भी बताते हैं। यह प्राचीनों का मत है।

रामोपासकों ने महारानी सीताजी का परात्पर पर स्वरूप श्रीजी को माना है और इसी भावना से वे अपने सम्प्रदाय को 'श्रीसम्प्रदाय' कहते हैं। 'श्रीसम्प्रदाय' इस नाम के कहने से इसके अन्दर राम और सीता की उपासना का भी बड़ा सुन्दर सम्बन्ध बैठ जाता है। इस हेतु से 'श्रीसम्प्रदाय' रामोपासकों का ही मुख्य सम्प्रदाय है।

श्रीजी के सम्बन्ध में लोक में भी महापुरुषों ने ऐसा ही माना श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी महाराज ने अपने श्रीरामचरितमानस में बहुत से स्थलों में सीता के स्थान में 'श्री' शब्द का ही प्रयोग किया है। उन्हें जब सीताजी के स्वरूप में परातत्व का निरूपण करना हुआ है तब वे उन्हें 'श्री' शब्द से ही सम्बोधित करते हैं। निम्नलिखित कुछ उनके उदाहरण हैं।

'उभय मध्य 'श्री' सोहत कैसे, ब्रह्मजीव बिच माया जैसे'।
तब अनल भूसुर रूप कर गहि सत्य 'श्री' श्रुति विदित जो'
'सिंहासन अति उच्च मनोहर, 'श्री' समेत बैठे ता ऊपर'।
'तब रघुनायक 'श्री' सहित अवधहिकीन्ह प्रणाम, इत्यादि।

इन सब स्थलों में सीताजी के स्थान में श्री शब्द का प्रयोग हुआ है। गुसाईंजी के कथनानुसार भी श्रीजी में और सीताजी में एकरूपता है। उनके मत में जो सीताजी हैं वहीं श्रीजी हैं। यहाँ एक शंका और समाधान कर ली जाती है। क्या सीताजी के समान दूसरी शक्ति लक्ष्मीजी भी श्रीजी कहला सकती हैं? रामभक्तों के मन में यह बात नहीं है। गोस्वामीजी इसका खण्डन करते हैं।

'विषवारुणी बन्धु प्रिय जेही, कहिय रमा सम किम वैदेही'।

वे कहते हैं कि विष और मदिरा के साथ समुद्र से जिस लक्ष्मी

का जन्म हुआ है वह सीताजी की उपमा में नहीं लाई जा सकती। जब लक्ष्मी जी सीताजी की उपमा में ही नहीं आ सकती तब वह श्रीजी कैसे हो सकती है। यह श्रीगुसाइंजी का मत है और यही सब रामभक्तों को मान्य है। वे इसे साम्प्रदायिक रहस्य कहते हैं, अतः रामानन्द सम्प्रदाय के सिद्धान्त में श्रीसम्प्रदाय केवल रामोपासकों का है दूसरों का नहीं है।

लोक में एक विवाद और यह फैला है कि दक्षिण से रामानुज स्वामी का जो सम्प्रदाय चला है वह भी श्रीसम्प्रदाय के अन्तर्गत ही है और ऐसा ही रामानुजीय महानुभाव मानते हैं। यह बात ऐतिहासिक गवेषणा पर सही नहीं है। उनका सम्प्रदाय लक्ष्मीजी से चलता है और इसे वे स्वयं ही स्वीकार करते हैं।

लक्ष्मीनाथ समारंभां नाथ यामुन मध्यमां,
अस्मदाचार्य पर्यन्तां, वन्दे गुरु परम्पराम ।

यह श्रीरामानुज सम्प्रदाय के परम्परा का मन्त्र है। इस मंत्र में नारायण से लक्ष्मी को मन्त्र मिला और लक्ष्मी से विश्व में फैला यह आशय है। नाभाजी ने भी अपने भक्तमाल में यही लिखा है।

सम्प्रदाय शिरोमणि सिन्धुजा रच्यो भक्ति वित्तान'
विष्वक्सेन मुनिवर्य............।
यामुनि मुनि रामानुज निमिर हरन उदयभान।

(भक्तमाल छप्पय ३१)

सभी सम्प्रदाय के भक्तों की कथा लिखते समय नाभाजी ने रामानुज सम्प्रदाय का भी उल्लेख किया है और उसमें उसे लक्ष्मी जी से आरम्भ हुआ बताया है अतः उनका सम्प्रदाय तो स्पष्ट रूप से 'लक्ष्मी सम्प्रदाय' है। उसे 'श्रीसम्प्रदाय' कहना व्यर्थ है। साकेतवासी पं० सरजूदासजी ने अपने ग्रंथ 'वैष्णव कुल भूषण' में

रामानुज सम्प्रदाय को 'नर सम्प्रदाय' लिखा है। उन्होंने उस सम्बन्ध में प्रमाण दिया है कि श्रीनारायण ने सर्वप्रथम नर को मन्त्रोपदेश दिया और उनसे ही फिर लोक में वह सम्प्रदाय फैला अतः रामानुज सम्प्रदाय 'नर सम्प्रदाय' हो सकता है। काशी के विशिष्ट किसी विद्वान् ने रामानुज सम्प्रदाय को 'वैष्णव सम्प्रदाय' लिखा है और रामानन्द सम्प्रदाय को 'श्रीसम्प्रदाय' लिखा है। ये बहुत तरह की बातें रामानुज सम्प्रदाय के सम्बन्ध में हैं। इधर आज के जो कुछ कथन रामानुज सम्प्रदाय के सम्बन्ध में मिलते हैं वे उसके प्राचीन इतिहास से मेल नहीं खाते। वास्तव में रामानुज सम्प्रदाय का पिछला इतिहास उसके साम्प्रदायिक प्रमाण में सही रूप से कुछ भी है नहीं। यामुनाचार्यजी के सामने से ही रामानुज सम्प्रदाय की कुछ रूप-रेखा पड़ी है। विशेष करके रामानुज स्वामीजी के बाद ही उसका कुछ साम्प्रदायिक रूप बना है ऐसा ही उस सम्प्रदाय का पिछला इतिहास कहता है। इधर श्रीसम्प्रदाय को कैसे उस सम्प्रदाय के अनुयायी अपना कहने लगे यह एक रहस्य की बात है। 'श्रीसम्प्रदाय' की ख्याति और प्रतिष्ठा लोक में पहले से थी ही संभव है उसी कारण रामानुजी महानुभाव उसी के नाम पर अपनी प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए अथवा तो अपने सम्प्रदाय को प्राचीन सिद्ध करने के लिये ही उसे अपना कहने लगे हों? जो कुछ भी हो इतिहास में इससे बहुत भ्रान्ति पैदा हुई है और लोग उस सम्बन्ध में कुछ का कुछ समझे हैं। यदि रामानुज सम्प्रदाय के लोग लक्ष्मी को ही श्री मानकर अपने सम्प्रदाय को 'श्रीसम्प्रदाय' कहते हैं तो भी उन्होंने उसे स्पष्ट नहीं किया है। वास्तव में यह सब कुछ नहीं है श्रीसम्प्रदाय के साथ रामानुज सम्प्रदाय का संबन्ध जोड़ना एक घपला है। ऐतिहासिक आधार पर प्राचीन 'श्रीसम्प्रदाय' से रामानुज सम्प्रदाय का कोई संबन्ध नहीं बैठता अतः उसे श्रीसंप्रदाय के अन्तर्गत कहना भूल है।

श्रीसम्प्रदाय की ऐतिहासिक प्राचीन परंपरा

भगवन् योगिनां श्रेष्ठ प्रपन्नोऽस्मि दयां कुरुः
ज्ञातुमिच्छाम्यहं सर्वां पूर्वेषां सत्परम्पराम् ।
मन्त्रराजश्च केनादौ प्रोक्तः कस्मै पुरा विभो,
कथञ्च भुवि विख्यातो मंत्रोंऽयं मोक्ष दायकः ।
कृष्णदास वचः श्रुत्वाऽनन्तानन्दो दयानिधिः,
उवाच श्रूयतां सौम्य वक्ष्यामितद्यथा क्रमम् ।
परधाम्नि स्थितो रामः पुण्डरीकायतेक्षणः,
सेवया परयाजुष्टो जानक्यै तारकं ददौ ।
श्रियः श्रीरपि लोकानां दुःखोद्धरण हेतवे,
हनूमते ददौ मन्त्रं सदा रामाङ्घ्रि सेविने ।
ततस्तु ब्राह्मणा प्राप्तो मुह्यमानेन मायया,
कल्पान्तरेतु रामो वै ब्रह्मणे दत्तवानिमम् ।
मन्त्रराज जपं कृत्वा धातानिर्मातृतां गतः,
त्रयी सारमियं धातु वशिष्ठो लब्धवान् परम् ।
परांशरो वशिष्ठाच्च सर्व संस्कार संयुतम्,
मन्त्रराज परं लब्ध्वा कृतकृत्यो वभूवह ।
पराशरस्य सत्पुत्रो व्यासः सत्यवती सुतः,
पितुः षडक्षरं लब्ध्वा चक्रेवेदाय ब्रह्णम् ।

व्यासोऽपि बहुशिष्येषु मन्वानः शुभ योग्यताम्,
परमहंस वर्य्याय शुकदेवाय दत्तवान् ।
शुकदेवकृपापात्रो ब्रह्मचर्य व्रतेस्थितः,
नरोत्तमस्तु तच्छिष्यो निर्वाण पदवीं गतः ।
सचापि परमाचार्यो गंगाधराय सूरये,
मन्त्राणां परमं तत्त्वं राममन्त्रं प्रदत्तवान् ।
गंगाधरात्सदाचार्यस्ततो रामेश्वरो यतिः,
द्वारानन्दस्ततो लब्ध्वा परब्रह्म रतोऽभवत् ।
देवानन्दस्तु तच्छिष्यः श्यामानन्दस्ततोग्रहीत्,
तत्सेवया श्रुतानन्दश्चिदानन्दस्ततोऽभवत् ।
पूर्णानन्दस्ततोलब्ध्वा श्रियानन्दाय दत्तवान्
हर्यानन्दो महायोगी श्रियानन्दाङ्घ्रि सेवकः ।
हर्यानन्दस्य शिष्योहि राघवानन्द इत्यसौ,
यस्य वै शिष्यतां प्राप्तो रामानन्दः स्वयं हरि ।

(श्रीसम्प्रदाय की परंपरा)

अनन्तानन्दजी महाराज ने पयोहारी कृष्णदासजी के पूछने पर श्रीसम्प्रदाय की यह प्राचीन परंपरा बताई है। इस परंपरा में एक प्राचीन इतिहास है जो सम्प्रदाय के इतिहास को अनादित्व से जोड़ता है।

'जगत कल्याण की भावना से आदिपुरुष परमात्मा श्रीराम ने समस्त स्वर्ग और बैकुण्ठों से परे साकेत विशिष्टधाम में सर्वप्रथम सम्प्रदाय का रहस्यमय उपदेश श्रीसीताजी महारानी को दिया।

श्रीसीताजी सम्पूर्ण लोकों को श्री की भी श्री हैं। उन्होंने श्रीराम-तारक मंत्र को पाकर अपने परम भक्त श्रीरामचरणानुरागी हनुमानजी को वह मन्त्रोपदेश दिया। हनुमानजी से वह पवित्र उपदेश पितामह ब्रह्माजी को मिला। ब्रह्माजी से वशिष्ठजी को वशिष्ठजी से पराशरजी को पराशरजी से व्यासजी को, व्यासजी से शुकदेवजी को, शुकदेवजी से पुरुषोत्तमाचार्यजी (श्रीभगवान बोधायन) को, पुरुषोत्तमाचार्यजी से गंगाधराचार्यजी को, गंगाधराचार्यजी से सदाचार्य को सदाचार्यजी से रामेश्वराचार्यजी को, रामेश्वराचार्य जी से द्वारानन्दाचार्यजी को, द्वारानन्दाचार्यजी से देवानन्दाचार्य जी को, देवानन्दाचार्यजी से श्यामानन्दाचार्यजी को, श्यामानन्दाचार्यजी से श्रुतानन्दाचार्यजी को श्रुतानन्दाचार्यजी से पूर्णानन्दाचार्यजी को, पूर्णानन्दाचार्यजी से श्रियानन्दाचार्यजी को, श्रियानन्दाचार्यजी से हरियानन्दाचार्यजी को, हरियानन्दाचार्यजी से राघवानन्दाचार्यजी को और राघवानन्दाचार्यजी से भगवान् रामानन्दाचार्यजी को वह रहस्यमय मन्त्रोपदेश मिला। यही रामानन्दाचार्यजी महाराज हैं जिन्हें इतिहासों में युग प्रवर्तक महापुरुष माना गया और आगे चलकर श्रीसम्प्रदाय इन्हीं के नाम पर रामानन्द सम्प्रदाय कहलाया।'

यह 'श्रीसम्प्रदाय' की आचार्य परंपरा का शृङ्खलाबद्ध इतिहास है। इसे रामोपसना के विशाल क्षेत्र में परंपरा के क्रम से अपनाया गया है। इस इतिहास से यह बहुत ही स्पष्ट रूप से प्रामाणिक हो जाता है कि श्रीसम्प्रदाय का मुख्य संबन्ध रामानन्द सम्प्रदाय से ही है। इति।

आचार्य रामानन्द का साकेत गमन

स्वामी रामानन्दाचार्यजी महाराज का परमधाम गमन भी कब हुआ शंकास्पद बात है। जिस तरह जन्म संवत् को हम ठीक-ठीक नहीं समझ पाये हैं उसी तरह हम उनके परमधाम को भी ठीक नहीं समझ पाये हैं। इस पर बहुत लोगों के भिन्न-भिन्न मत हैं और वे वस्तुतः खोजपूर्ण नहीं हैं। रूपकला के भक्तमाल में एक श्लोक आया है जिसमें १४६७ वि० संवत् में स्वामीजी का परमधाम जाना लिखा है। यह श्लोक कहाँ का है और इसका ऐतिहासिक क्या संबन्ध है यह कुछ भी उस भक्तमाल में नहीं लिखा है। वह श्लोक निम्नलिखित है :—

श्रीमद्विक्रम वत्सरेऽश्वरस वारीशेन्दु संख्ये (१४६७) धराम्।
त्यक्त्वा माधव मासके सुदि तृतीयायां तिथावुज्ज्वलम्।।
धर्मं भागवतं विमुक्ति फलकं विन्यस्य जीवेषुवै।
रामानन्द सुदेशिकस्समगमत्साकेत लोकं परम्।।

इसका अर्थ यह है, आचार्य रामानन्द स्वामी १४६७ वि० संवत् में वैशाख शुक्ला तृतीया के दिन, संसारी जीवों में भगवद्भक्ति का मोक्ष के लिए प्रचार करके इस भूतल से साकेतधाम को चले गये। इसके प्रमाण से (१३५६-१४६७) रामानन्द स्वामी का जीवनकाल होता है। इस प्रकार १११ वर्ष भूतल पर आचार्यपाद रहे।

रघुराजसिंहजी की भक्तमाला में स्वामीजी का जीवनकाल सात सौ वर्ष माना है। यथा—

वर्ष सप्तशत लौ तनु राख्यौ
परमारथ तजि और न भाख्यो।
तासु प्रभाव विदित चहुँ घाहीं
भरत खण्ड जानत को नाहीं।।

(भक्तमाला रामानन्द की कथा)

अर्थ स्पष्ट है, सप्त शत = सात सौ वर्ष तक स्वामी रामानन्दजी महाराज पृथ्वी पर रहे और संसार का उद्धार किये। उनके प्रभाव को भारत के खण्ड में सब कोई जानते हैं। ये शब्द रघुराजसिंहजी रीवा नरेश ने लिखे हैं। ७०० वर्ष तक तो ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलते हैं किस प्रकार रघुराजसिंहजी ने रामानन्द स्वामी को इतने लम्बे जीवन में लिखा। यदि हम उनके सप्त शत शब्द को उलट कर शत सप्त कर दें तब १०७ (एक सौ सात) अर्थ हो जाता है परन्तु वहाँ अंक नहीं है शब्द है। इसका अर्थ बहुतों ने ७०० वर्ष ही किया है। जो कुछ भी है यह उनका मत है उसे सात सौ अथवा एक सौ सात जो चाहें सो मान लें। रघुराजसिंहजी ने जन्म-काल तथा परमधाम गमनकाल कुछ नहीं लिखा, केवल सप्त शत वर्ष पृथ्वी पर रहे यही लिखा। इससे तो ऐतिहासिक शृङ्खला नहीं बैठाई जा सकती।

'प्रसंग पारिजातम्' ग्रन्थ में परमधाम गमन की विस्तारपूर्वक कथा आई है। उस सम्बन्ध कीं दो अष्टपदी नीचे देते हैं।

(अष्टपदी १०६)

मउसी सुमी जाकिण बुकी, अभ धूह पचणा सक चुकी।
लक भेद लिपुहा पब धुकी, पस हीम धिकुटारामकी ॥१॥

अस ही उही साही लही, मच राम चा मुसली अही।
जग झातुड़ा वतपी-चही, मलगाह ग वुणासी पही ॥२॥

पचु भचु मचीरा-कुन्दिनी, दिगथा थुरंसा बुन्दनी।
रुट रौकिणा जिस तुन्दनी, अहवर हुअरथा चुन्दनी ॥३॥

बेहुनी हचो पिघ पास भर, मुपजीह औरस केणुचर।
सिहुलं, सुलंभितु आप अर, माही मुअरिला लूपलर ॥४॥

तैमुद कुसद पद वारु सद, पमरिस टिहाणी लोरुपद।
हच हा भुकरपीजील पद, वचुखं पुखं फिणु हापरद ॥५॥

अतवार अठमी पाह चिण, दीदी दुमीदी आह रिण ।
बिप्पांभुचसामाह किण, तिसुधा मुधा थालाह लिण। ।६।।
लुह बाच लुंविग घासुमू, वत खाछ भाड़िस चासुमू ।
नवमी अयोध्यां टासुमू, सेगा उगाढ़िह गासुमू ।।७।।
वकरिव बुचण्टा पेमगी, चिद्धाम चगपी देमगी ।
लफ हिम बुझण्टा तेमगी, महुसिण जुआरिस ले मगी।।८।।

इस अष्टपदी में आचार्यपाद स्वामी रामानन्दजी महाराज के साकेत धाम जाने के समय स्वामीजी के उत्सव और उपदेश के विवरण हैं। आचार्य भगवान् ने अपने शिष्यों को तथा प्रेमियों को जो मार्मिक उपदेश दिया वह भारत के भाग्य का अमर संदेश है।

"सम्वत् १५१५ के मधुमास (चैत्र) की शुक्ला प्रतिपदा, शनिवार को प्रातः समय अग्नि कुण्ड की प्रतिष्ठा हुई और तारक महामंत्र का अनुष्ठान प्रारम्भ हुआ। अच्छे-अच्छे कर्मकाण्डो उपस्थित हुए।१। इधर दीन, अपाहिज, एवं साधु संन्यासी आदि जो राम के प्यारे थे सबके सत्कार का उदारतापूर्वक प्रबन्ध हुआ। बाहर और भीतर के प्रेमियों का अलग समारोह था। इधर जितेन्द्रिय सन्तों का जत्था अलग सत्संग की इच्छा से पड़ा था। सब जगह स्वामीजी की आवश्यकता ही थी। उन्हीं के दर्शन सब चाहते थे। इसलिए सब की रुचि रखने के लिए एक रूप से यज्ञशाला में, एक रूप से क्षेत्र में और एक रूप से सत्संग में विराजमान होकर स्वामीजी ने सब को कृतार्थ किया।४। शंखध्वनि के मोहक स्वर में मस्त लोग इस अलौकिक लीला को लख न पाये। केवल आचार्य भगवान् के मुख्य-मुख्य शिष्य इस रहस्य को चुपचाप देखकर आनन्दित होते रहे।५। अष्टमी इतवार के दिन अनुष्ठान की समाप्ति पर शिष्यों, सन्तों जौर विप्रों को सम्बोधित करके महाराज ने कहा, "सब शास्त्रों का सार भगवत्स्मरण हैं जो सन्तों का जीवन आधार है। शिखा सूत्र का

आधार पादज और अन्त्यज है। भाई पैरों को काट कर समाज को पङ्गुमत बनाना ।६। कल श्रीरामनवमी है. अयोध्याजी (साकेत) अकेले ही जाऊँगा। कोई भी साथ नहीं जायेगा। सब यहीं रहेंगे और उत्सव मनायेंगे ।७। कदाचित् मैं न लौट सकूँ क्योंकि उस धाम में जो जाता है सो लौटता नहीं। तुम सब मेरी त्रुटियों और अविनय आदि पर ध्यान न देना। यह सुनते ही सब के नेत्र सजल हो गये ।८।

इस अष्टपदी में जो कुछ अद्भुत प्रसंग आया है वह आश्चर्य नहीं है। महान् कार्यों के लिये जो अवतार आते हैं उनमें ये सब बातें प्रायः होती ही हैं। आचार्य रामानन्द का सारा जीवन इतना पवित्र है कि संसार की बड़ी से बड़ी विभूतियों में भी उतनी पवित्रता नहीं देखी गई। इसी कारण सबने उन्हें स्वयं मर्यादावतार राम का अवतार माना। उन्होंने अन्त में भगवत्-स्मरण और पादज (शूद्र) और अन्त्यजों से घृणा नहीं करने को कहा। आचार्य के ये महान् शब्द हिन्दू जाति के लिए अमर उपदेश हैं।

अष्टपदी १०७ वीं में आचार्य का ठीक रामनवमी के दिन साकेतधाम जाना और उनके भक्तों तथा शिष्यों का दुखित होना लिखा है।

चन्दत ववरटा डिम हिमी, उकसान था भस हिस लिमी।
तउनास वेथतकिटपिमी, लौगाणु हपणाचिप चिमी।।१।।
दरदी हुड़ाथप अचणवसु, इस जाण दामू दीन चसु।
मकवेहमुहलादनसजसु, ढुकमाम सिभुड़ा तपतु रस।।२।।
नगजी मुजी भासठ पवथ, झिगवीछु तैणा वस लवच।।
उंसार जे पारहि थवंच, किह लेप घाभिण पासवच।।३।।
पझवन पवन मचुली सवन। फौसार लिसुनारी लवन।
लमहोथ थपुहा चन तवन। दिपरा कुवल सारन फवन।४।

तहवर जुणा फिवताणु-गप । लुसतीम कंदला सविण रप ।
थिउरा थुरादिह केण-सप । गउची कबीरा तुंभि चप ।५।
कज किहरिया हासण भिसत । वहगेसु गरु हाली तिसत ।
छउ वादिमत पिड्सी लिसत । मपधी उधी पपधी तिसत ।६।
धामिस तमिस पुसथाभ थर । हन्ते हुवन्ते लामदर ।
यिछु करि हिणा मुतकी मगर । सविरं सुरं बजगीछचर ।८।
पद पीठ पाहुस तेभु झिट । अलमी सभी गंगा चसिट ।
लचु खेह लगवारं उमिट । कसुकी मगारू लंपुहिट ।८।

रविवार की रात्रि के उपदेश को सुनकर सशंकित जनता सोमवार के दिन प्रातःकाल ही आश्रम पर जमा हो गई । पढ़े-लिखे तथा अपढ़ सभी श्रेणी के लोग वहाँ थे । सभी के हृदय धड़कते थे तथा सभी सतर्क थे (कि क्या होगा) । इतने में बड़े ऊँचे स्वर से शंख-ध्वनि हुई मानो ऊपर से वह उतरती हुई नीचे आ रही हो । सुनकर सब स्तब्ध रह गये । वह अन्तिम पावन ध्वनि थी उसके मर्म को केवल मुख्य शिष्य ही समझ सके थे ॥ २ ॥ इस पृथिवी पर जाने कितने महापुरुष आये और अपना अपना कर्तव्य करके चले गये । कोई रहा नहीं, पर उसकी कीर्ति अचल रही । रचना का रहस्य इसी में है । सिद्ध पुरुष तो अपनी महिमा ही में विराजते हैं । ३ । गुफा का द्वार खुला, मुख्य मुख्य शिष्यों ने उसमें प्रवेश करके देखा । दैनिक कृत्यों की सब चीजें ज्यों की त्यों धरी थीं, चरणपादुका भी थीं परन्तु शंख तथा उसके फूकनेवाले भगवान् नहीं थे । ४ । गुरु-वियोग के दुःख को ज्ञानी शिष्य भी नहीं सह सके । सभी विकल हो गये । वह एक वियोग की सरिता थी जिससे पार होना कठिन हो गया । केवल आचार्य के प्यारे कबीरजी ही बड़ी सावधानी से धैर्य धारण कर सके । उन्होंने सब को समझाया फिर भी रोती हुई प्रजा को चुप नहीं करा सके । काशी-नगरी में हाहा-

कार मच गया। असंख्यों भीड़ें आश्रम पर जमा हो गईं। वह एक महान् शोक था जिसमें सब बेचैन हो गये। वह एक उस धर्माचार्य का वियोग था जिसके प्रताप से हिन्दू-जाति संकट के भयानक समुद्र से पार हुई। काशी के लोग कैसे उस आचार्य के वियोग को सह सकते थे। मध्याह्न तक सभी नर-नारी भारी बेचैनी में पड़े रहे। उसके बाद आकाश से पुनः एक शंख ध्वनि हुई उसने सभी विकल नर-नारियों के हृदय में शान्ति पहुँचाई। वह दयालु भगवान् की कृपा थी जो अन्तिम दुःखी भक्तों पर हुई थी। ७। शिष्यगण चरण-पादुका को लेकर गंगा किनारे गये। ज्योंहो उनका गंगाजल से स्पर्श हुआ वे लकड़ी से पाषाण की हो गईं। उन्हें सभी शिष्यों ने पूजन के लिये स्थापित किया। ८। प्रतापी शिष्य लोग चाहते थे कि आचार्य भगवान् कुछ काल और रहते। जब कुछ दिन पहले ब्रह्माजी तथा धर्मराज राजहंस और कबूतर के रूप में स्वामीजी की सेवा में आये थे तभी प्रधान शिष्य समझ गये थे कि आचार्य भगवान् का प्रस्थान होगा। कबीरजी ने उसी समय आचार्य के चरणों में बैठकर प्रार्थना की थी कि लोक कल्याण के लिये प्रस्थान टाल दिया जाय, परन्तु स्वामीजी ने ब्रह्माजी को दी हुई स्वीकृति रद्द नहीं की और कबीरजी को समझा दिया। भगवान् रामानन्द और भी रह सकते थे परन्तु आवश्यकता नहीं समझी। जीवन-मरण महापुरुषों के हाथ में होता है। उसके बाद उनके प्रतापी शिष्य काम सम्हाल सकते थे। आचार्यपाद का काम समाप्त था। जिस प्रकार रघुनाथजी महाराज ने अपने शरीर के सहित साकेतधाम को प्रस्थान किया। उसी प्रकार स्वामीजी ने भी शरीर के सहित साकेतधाम को प्रस्थान किया। कबीरजी की आयु उस समय १६० वर्ष की थी। उन्हीं के समान और भी शिष्य थे सभी दीर्घजीवी तथा सभी प्रतिभाशाली थे। सभी अपने गुरु भगवान् की आज्ञानुसार उनकी पद्धति पर चलकर लोक का कल्याण करते रहे।

'प्रसंग पारिजातम्' ग्रंथ से यह कथा संबंधित है। यह ग्रंथ अधिक प्रामाणिक है। इसकी भाषा प्राकृत और पैशाची का सम्मिश्रण है। इसकी रचना १५१७ विक्रम संवत् में हुई है। इसके लेखक महात्मा चेतनदासजी महाराज हैं। वे स्वयं स्वामीजी की सेवा में रहे हैं। आचार्य की वर्षी पर इकट्ठे होनेवाले सिद्ध कोटि के सन्त-महात्माओं ने उन्हें विचित्र भाषा में इस ग्रन्थ के लिखने की आज्ञा दी। इसी कारण उन्होंने १५१७ विक्रम सम्वत् में माघ कृष्ण सप्तमी, भृगुवार के दिन आचार्य जन्म तिथि पर इस ग्रन्थ को लिखकर समाप्त किया। इस ग्रंथ में बहुत सी ऐसी ऐतिहासिक कथाएँ हैं जिनसे हमें पिछली शताब्दियों में भगवान् रामानन्दजी ने कितने महान् कार्य किये हैं। ठीक-ठीक पता लगता है। इस ग्रंथ की भाषा को देखकर विद्वान् गुणाढ्य का स्मरण होता है जिन्होंने उन्नीस सौ वर्ष के पहले इसी भाषा में 'वृहत्कथा' नामक ग्रंथ लिखा था। साहित्यिक दृष्टि से यह 'प्रसंग पारिजातम्' अनुपम ग्रंथ है।

आचार्य रामानन्दाचार्यजी विक्रम की तेरहवीं शताब्दी के आरंभ में उत्पन्न हुए हैं और १५१५ (पन्द्रह सौ पन्द्रह) विक्रम संवत् में परमधाम गये हैं, अतः उनका जीवनकाल लगभग तीन सौ वर्ष का माना जायेगा। इतने लम्बे जीवन के ऊपर शंका नहीं चाहिये क्योंकि सिद्ध कोटि के महापुरुष ऐसा करने में समर्थ होते हैं। पहले कबीरजी के प्रकरण में हम यह दिखा आये हैं कि सिद्ध योगी जब तक चाहें जीवित रह सकते हैं। आचार्य रामानन्द स्वामी तो स्वयं भगवान् ही थे ऐसा प्राचीन लोगों ने कहा है तब उनके सम्बन्ध में दीर्घ जीवन पर कुछ भी सोचना व्यर्थ है। वे योग विद्या के ईश्वर थे तथा वे सब कुछ करने में समर्थ थे। महर्षि सुखदेव के समान वे महान् थे। कोई भी दुनिया का दूसरा महान् व्यक्ति उनकी तुला में संकोच से तोला जायेगा। वे तीन सौ वर्ष तक जीवित रहे हैं इसमें कोई सन्देह नहीं है। इति।

आचार्य रामानन्द और रैदास

रैदासजी—यह बहुत ही प्रसिद्ध इतिहास है—आचार्य रामानंद के प्रधान शिष्यों में से एक प्रतापी शिष्य थे। ये उस वर्ग से आये थे जिसे ब्राह्मणवाद ने कुचलकर हिन्दू धर्म से दूर फेंक दिया था। उसे कोई भी अधिकार वेदों से प्राप्त नहीं था। किसी भी धर्मगुरु ने उस वर्ग पर अपनी कृपा नहीं की थी। वह दूर पड़ा कराहता था, पर जगत्‌गुरु कहलाने वाले भी उसकी कराह नहीं सुनते थे। मुसलमान लोग उसे आसानी से अपनी ओर खींच रहे थे पर इसका दुख किसी भी धर्माभिमानी के हृदय में नहीं था। आचार्य रामानन्द ने इस महान् पातक को भी धार्मिक क्षेत्र में देखा। वे सच्चे धर्मगुरु थे कैसे इसे सह सकते थे। वे दलितवर्ग को उठाने के लिए साहस के साथ खड़े हुए। उन्होंने अपने पवित्र हाथ फैलाये और उस दलितवर्ग को छुआ। रैदास चमार रामानन्द के शिष्य हुए। उन्हें वैष्णवोचित संस्कारों से दीक्षित किया गया, इसे सारे संसार ने सुना। ब्राह्मणवाद में हलचल आई और विपरीत आलोचना शुरू हुई। आचार्य रामानन्द ने उसकी कोई परवाह नहीं की। उन्होंने उस संकुचित शृङ्खला को पहले ही तोड़कर फेंक दिया जिसमें हिन्दू धर्म जकड़ा था। जाति-पाँति के बखेड़े में भगवान् की भक्ति नहीं बँधी है, इस प्रकार आचार्य ने घोषणा की। "जाति पाँति पूछे नहिं कोई, हरि को भजै सो हरिका होई"। यह आचार्य के मुख का महामन्त्र है। इसे विश्व ने सुना और इसके द्वारा धार्मिक जगत् में एक नई क्रान्ति का जन्म हुआ। अछूत वर्ग में हिन्दुत्व की भावना जगी और वह मुसलमानों की तरफ जाने से रुक गया। हिन्दू धर्म का मुख्य चिन्ह शिखा था उसे सभी वर्ग के लोग श्रद्धा से धारण करते थे। अछूतवर्ग भी उसे धारण करके

अपना गौरव मानता था। महिमा की वस्तु दूसरी राम-नाम थी और उसे वैदिक तत्व भी मानते थे, वह भी सरलता के साथ घर-घर पहुँच गया था। उच्चवर्ग के समान निम्नवर्ग भी दैनिक जीवन में उसका उपयोग करता था। यह सब रामानन्द की कृपा का फल था। यह एक हिन्दुत्व का संगठन था जो उस समय बड़ा ही आवश्यक था। दूरदर्शी आचार्य ने इसके लिये किसी समय अपना शंख फूँका था और राष्ट्र की समृद्धि के लिए शुभ कामना भी की थी, जो निष्फल नहीं हुई।

रामानन्द ने रैदास को सर्वसाधन-सम्पन्न बना दिया। वे नर से नारायण बन गये और संसार उनकी चरणधूलि को मस्तक पर चढ़ाने लगा। वे नश्वर शरीर से लोक में रहते थे पर उनका मन अपने प्रभु राम के चरणों में ही लगा रहता था। उन्होंने अपनी समस्त वृत्तियों को जीत लिया था और वे भक्ति की पराकाष्ठा पर पहुँच चुके थे। सिद्ध परम्परा के आये हुए विचारों में कहा गया है कि रविदासजी कभी-कभी इतने तन्मय हो जाया करते थे कि उनके सम्हालने को उनके पीछे रामजी स्वयं ही घूमा करते थे। रैदास के शब्दों में वह स्वर्गीय रस भरा था जिसके पीने के लिए संसार व्याकुल रहता था। नाभाजी ने अपने भक्तमाल में उनके प्रति बड़े ही सम्मान के शब्द लिखे हैं।

सन्देह ग्रन्थि खण्डन निपुण वाणी विमल रैदास की।
सदाचार श्रुति शास्त्र वचन अविरुद्ध उचार्यो ।।
नीर खीर विवरन परम हंसनि उर धार्यो।
भगवत कृपा प्रसाद परम गति यहि तन पाई ।।
राजसिंहासन बैठि ज्ञाति परतीति दिखाई।
वर्णाश्रम अभिमान तजि पद रज वन्दहि जासुकी ।।
सन्देह ग्रंथि खंडन निपुन वाणी विमल रैदास की।

(भक्तमाल छप्पय ५९)

महाराज रैदासजी की वाणी में बड़ा ही तेज था। वे जिस समय बोलते थे उस समय सन्देह की ग्रन्थियाँ खुल जाती थीं। उनके कथन वेद वाक्य थे, शास्त्र-मर्यादा के विरुद्ध वे कभी नहीं बोलते थे। उनका निर्मल उपदेश परमहंस कोटि के महापुरुषों ने सुनकर हृदय में धारण किया था। प्रभु की उन पर बड़ी कृपा हो चुकी थी; उन्हें पराभक्ति उसी शरीर से प्राप्त हुई थी। राजसिंहासन पर उनके पवित्र चरण पूजे गये थे। वर्ण और आश्रम (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वाणप्रस्त और संन्यास) के अभिमान को छोड़ कर सभी वर्ग के प्राणियों ने उनके चरणरज की वन्दना की थी। इस प्रकार आचार्य रामानन्द के शिष्य रैदासजी का प्रताप लोगों ने स्वयं देखा; यह उपरोक्त छप्पय का आशय है।

मीराबाई और उनके गुरु रैदास

हम पहले लिख चुके हैं कि रैदासजी महाराज यमराज के अवतार थे। आचार्य रामानन्द की सेवा में बैठकर लोक-कल्याण करने को वे आये थे। आचार्य भगवान् ने उन्हें अपना पंथ चलाने की भी आज्ञा दे दी थी। उन्होंने लोक में उतर कर भगवद्भक्ति का प्रचार किया। अपने आचार्य का झण्डा हाथ में लेकर रैदासजी ने सारे देश में घूम-घूम कर उपदेश दिया। प्रभु के भक्त चाहे कोई भी हो वे उनके प्रतिनिधि हो जाते हैं। उन्हें भक्ति-सम्बन्धी सबको उपदेश देने का अधिकार हो जाता है। रैदासजी महाराज ने अपनी आचार्य परम्परा के साथ सभी वर्ग के प्राणियों को राम-भक्ति का उपदेश दिया। राजमहल से लेकर एक छोटी-सी झोंपड़ी तक रैदासनी का उपदेश सबने सुना। विश्वविख्यात चित्तौड़ की महाराणी मीराबाई रैदासजी की ही शिष्या थी। काशीपुरी से जाकर स्वयं चित्तौड़ के राजभवन में मीराजी को रैदासजी ने दीक्षा

दी थी। भगवती मीरा के दीक्षाकाल में ब्राह्मण वर्ग ने विरोध उठाया परन्तु मीरा के सामने उसका कोई महत्व नहीं हुआ। मीरा भगवान् को परम भक्ता थी, उनकी सारी क्रियाएँ भगवान की आज्ञा से होती थीं। वे लोक के आडम्बर को नहीं मानती थीं। उन्हें आत्मा की महानता का ज्ञान था। उन्होंने रैदास को पहचाना और उनकी महानता के सामने वे झुकी, रैदास की शिष्या बनने में भी उनके प्रभु की भी प्रेरणा हुई इसलिये वे उनकी शिष्या बनीं। रैदासजी की कृपा से मीरा को वास्तविक प्रभुतत्व का ज्ञान हुआ। भगवती मीरा ने इसे स्वयं अपने पदों में स्वीकार किया है।

मेरो मन लाग्यो हरि जूँ सूँ अबन रहूँगी अटकी,
गुरू मिल्या रैदासजी दीन्हीं ज्ञान की गुटकी।
चोट लगी निज हरि की म्हारे हिवड़े खटकी,
मानिक मोती परत न पहरूँ मैं कबकी नटकी।
गेणों तो म्हारे माला दोवड़ी और चन्दन की कुटकी,
राजकुल की लाज गँवाई माधाँ के सँग में भटकी।
नित उठि हरिजू के मन्दिर जास्याँ नाच्याँ दे दे चुटकी
भाग खुल्यो म्हारो साध संगत सूँ साँवरिया की वरकी
जेठ बहू को काण न मानूँ घूँघट पड़ गई पर की,
परम गुराँ के सरन रहस्यां परणाम कहाँ लुटकी।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर जनम मरन सूँ छुटकी।

(मीरा पदावली)

यह मीराजी का स्वरचित पद है। इसमें उन्होंने परमगुरु रैदासजी महाराज के द्वारा ज्ञान की प्राप्ति लिखी है। उन्होंने सन्तन के संग के लिये राजकुल की लाज को भी फेंक दिया कहा

है। उन्हें बड़े से बड़े त्याग बलिदान को करके भी अपने भक्तिपथ में ही रहना है, उन्होंने इसे स्पष्ट किया है। अन्त में वे फिर प्रतिज्ञा करती हैं कि उन्हें अपने गुरुदेव की शरण में रहकर उनकी आज्ञानुसार अपना जीवन व्यतीत करना है। ये महान् मीराजी के शब्द हैं।

मीरा के निम्नपद से भी गुरु-निष्ठा एवं राम-प्रेम का परिचय मिलता है—

लागी मोहि राम खुमारी हो,
सतगुरु भेद बताइया, खोली भरम किवारी हो।
मीरा दासी राम की अमरित बलिहारी हो।

मीराजी गुरु की खोज में बहुत दिन से थीं। उन्हें कोई भी महान् गुरु नहीं मिला, अन्त में भी रैदासजी के द्वारा उन्होंने भगवत्तत्त्व को प्राप्त किया और प्रभु से मिलकर सुखी बनीं यह दूसरे पद में लिखा है। उसका निम्नलिखित अंश है—

खोजत फिरौं भेद वा घर को कोई न करत बखानी,
रैदास संत मिले मोंहि सतगुरु दीन्ही सुरत सहदानी।
मैं मिल जाय पाय पिय अपना तब मोरी पीर बुझानी,
मीरा खाक खलक सिर डारी मैं अपना घर जानी।

(मीरा पदावली)

मीराजी कहती हैं कि उन्हें जगह-जगह अपने प्रभु के घर का भेद समझने को भटकना पड़ा परन्तु किसी ने भी सही नहीं बताया। मीरा के उस दुख को हटाने में कोई भी समर्थ नहीं हुआ। जब उन्हें गुरु भगवान् रैदासजी महाराज मिले तब उनका सारा दुख दूर हो गया। उन्हें उन महान् गुरुदेव ने उस घर में पहुँचा दिया जहाँ उनके सच्चे पति भगवान् के दर्शन हुए। मीराजी कहती हैं

कि उन्होंने अपने उस घर को समझ लिया जिसके सामने यह संसार धूल हो जाता है। यह मीराजी के अपने परम पूज्य गुरुदेव के सम्मान में कहे हुए निजी भाव हैं।

मीरा रविदास (रैदास) जी की शिष्या थीं, इसे कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता। उन्होंने संसार को इस बारे में साफ-साफ स्पष्ट कर दिया है। वे जरा भी रविदास को अपना गुरु कहने में नहीं हिचकिचातीं। उन्होंने संसार के कोरे अभिमान पर धूल फंक दी थी। उनके ध्यान में रविदास जी उस युग के महान् थे, यह उन्होंने स्वयं अपने लिए स्वीकार किया है।

मीराजी पर ऐतिहासिक विचार काफी हो चुके हैं उन पर हमें कुछ विवाद नहीं उठाना है केवल यह कहना है कि कहीं-कहीं पर लोग मीराजी को रैदासजी की शिष्या बताने में लज्जित से होते हैं। वे सत्य पर परदा डालकर उसे छिपाते हैं। उनके ध्यान में रैदासजी महाराज चमार थे और उनकी शिष्या मीराबाई होती हैं तो उनकी ऊँची जाति का सिंहासन डूब जाता है, इसलिये उन्हें रैदासजी से मीरा को अलग करना ही उचित जंचता है। इस अभागे हिन्दू-धर्म में यही पातक है। लोग नाशवान मिट्टी के बने शरीर को ही ऊँचा मानकर या नीचा मानकर झूठे अभिमान में डूबे रहते हैं और आत्मा की—जो वास्तविक में महान् है पहचान नहीं करते। चित्तौड़ से हाल ही में एक मीराबाई की जीवनी नाम की छोटी-सी पुस्तिका निकली है। उसमें लिखा है—'राणा सांगा की रानी झाली (साहबा) काशी गईं और वहाँ रैदासजी को अपना गुरु बनाईं और उन्हें चित्तौड़ पधारनें का भी उन्होंने आग्रह किया। रैदासजी चित्तौड़ गये और वहीं मीराजी उनसे मिलीं और प्रभावित हुईं तथा उन्हें गुरु सम माना'। लेखक महाशय के भाव में रैदास जी को मीरा ने 'गुरु के समान माना' गुरु नहीं बनाया यह व्यक्त होता है। यह सत्य पर परदा डालना है। मीराबाई अपने रचित

पदों में स्वयं ही रैदासजी के सम्बन्ध में परिचय दे चुकी हैं फिर भी लेखक महानुभाव ने अपनी पवित्र परम्परा का परिचय दिया है। वे यह भूल गये कि उससे पहले उन्होंने चित्तौड़ की महारानी झाली साहबा को रैदासजी की शिष्या लिखा है। उसके लिखने से भी वही आपत्ति आती है जो मीरा के शिष्या होने में उन्होंने समझी है। हम ऐसे विचारों को सत्य का हनन मानते हैं। मीराजी महान् रैदास जी की ही मुख्य शिष्या थीं। उन्होंने वैदिक धर्म की प्रथा के अनुसार रैदासजी को ही अपना गुरु बनाया।

मीराजी की कृष्ण भक्ति साधारण देखा देखी से उत्पन्न हुई थी जैसी कि स्वाभाविक ही किसी परिवार में होती है। उस भक्ति में बल नहीं होता है क्योंकि उसके साथ परम्परा शक्ति का योग नहीं होता। वह योग गुरु द्वारा ही प्राप्त होता है। इसी कारण यह प्राचीन प्रथा है कि गुरु बनाकर ही किसी क्रिया का आरम्भ करो अन्यथा वह क्रिया निष्फल होगी। मीराजी को स्वयं ही उनकी पहली भक्ति पर सन्तोष नहीं था, वे उसके वास्तविक स्वरूप की खोज में बहुत भटकीं। इसे उन्होंने स्वयं ही व्यक्तकिया है।—

खोजत फिरों भेद वा घर को कोई न करत बखानी।
रैदास संत मिले मोहि सतगुरु दीन्ही सुरत सहदानी॥

मीराजी को भक्ति से प्रेम था परन्तु वे उसका भेद नहीं जानती थीं। इसीलिए वे उस रहस्य को समझने के लिए जगह-जगह घूमीं। अंत में उन्हें रैदास गुरु मिले जिनसे उनका भ्रम दूर हुआ और वे सच्चे भक्ति के स्वरूप को प्राप्त हुईं।

मीरा की रामोपसना

दीक्षा लेने के बाद मीराजी ने राम की उपासना में प्रवेश किया। रैदासजी ने श्रीसम्प्रदाय के अनुसार उनके कण्ठ में तुलसी की दो लड़ी कंठी बाँधी, माथे पर चन्दन का तिलक दिया, राम-

मन्त्र का उपदेश किया, यह मीराजी के पदों से सिद्ध होता है। यहाँ एक शंका खड़ी होती है कि दीक्षा के बाद फिर कृष्ण को या उनकी पहली भक्ति को क्या मीराजी ने छोड़ दिया? इस पर कहते हैं। राम कृष्ण में भेद साधारण लोग मानते हैं महापुरुष नहीं मानते। रैदासजी ने कृष्ण को या उनकी पहली भक्ति को हटाया नहीं वरन् वहाँ कृष्ण के रूप में राम को उतार कर राम और कृष्ण की एकता कर दी। भक्ति ज्यों की त्यों रही उसमें और दिव्य रहस्य का समन्वय हुआ। मीरा को उसमें कोई विक्षेप नहीं पड़ा। उन्होंने पारमार्थिक रूप में राम को पहचाना और उनकी करुणा, दया और उदारता को तन्मय होकर गाया। उनके इस सम्बन्ध में अनेकों पद बड़े ही मार्मिक विवेचन में लिखे हुए मिलते हैं। निम्न-लिखित उनमें से एक पद है—

राम मोरी बांहडली जी गहो।
या भवसागर मझधार में थैंही निभाहण हो।
म्हाँ में औगण घणा छै हो प्रभुजी थैंही सहो तो सहो।
मीरा के प्रभु हरि अबिनासी लाज विरह की बहो।

शरणागति धर्म की पुकार में मीराजी ने राम से कहा है, "हे राम मेरी बाँह पकड़ लो जी। इस भवसागर की बीच धारा में पड़ी हूँ, तुम्हीं पार करने वाले हो। हे प्रभुजी मेरे में बहुत ही अवगुण भरे हैं उन्हें मत देखना। हे प्रभो उन्हें तुम्हीं सह सकते हो। 'हे मीरा के अविनाशी हरि (राम) तुम अपने यश की लाज रखो, तुमने किसी भी शरणागत को त्यागा नहीं है। ये भी मीराजी के हृदय से निकले हुए उद्‌गार हैं।

रैदासजी की शिष्या होने के बाद मीराजी में एक अलौकिक तेज आ गया था। वे उस समय संसार के सामने उस मधुर भक्ति-रस को उड़ेलने के लिए खड़ी हुई थी, जिसके कि नर-नारी प्यासे

थे। मीरा भारत की सन्त थी और प्रभु की बड़ी ही उच्चकोटि की भक्ता थीं। उन्हें विश्ववन्द्य रैदासजी जैसे महान् गुरु मिले थे। इसका उन्हें बड़ा ही गर्व था। वे प्रभु के वस्तुतः इतनी निकट पहुँच गई थीं, जहाँ अनुग्रह के सुधाविन्दु हर क्षण टपकते थे। मेवाड़ की पवित्र भूमि उनके द्वारा गौरवशालिनी बन गई थी। भारत के वैष्णव सन्त मीराजी की कथा बड़े ही आदर से सन्तों के बीच में आज भी गाते हैं। यहीं मीराजी की महत्ता है।

मीरा का एक विस्तृत और स्वतन्त्र इतिहास है। नारी-जगत में उनका स्थान बड़ा ही ऊँचा है। उन्होंने उन परीक्षाओं को दिया जिन्हें संसार कठिनाई से दे सकेगा। उनके त्याग और बलिदान उन्हें लोक से बहुत ही ऊँचा उठाते रहेंगे। मीरा आज लोक में अमर है और बहुत काल तक अमर बनी रहेंगी। चित्तौड़ के विशाल दुर्ग में उनका आज भी मन्दिर बना है। उनकी पवित्र स्मृति के साथ वहीं उनके पूज्य गुरुदेव रैदासजी की भी छतरी बनी हुई है। चित्तौड़ का वह दुर्ग हिन्दुओं के गौरव का प्यारा स्थान तो है ही परन्तु भगवती मीरा के चरण-स्पर्श से वह बड़ा ही पवित्र तीर्थ बन गया है।

रैदासजी के संक्षिप्त परिचय से यह बताया गया है कि आचार्य रामानन्द के द्वारा धार्मिक क्षेत्र में बड़ा ही परिवर्तन हुआ। हिन्दुओं की बहुत-सी कमजोरियाँ दूर हुईं और साथ ही साथ उनमें एक संगठन और उन्नति की भावना जगी। लोगों ने समय को पहचाना और नीच-ऊँच के प्रश्न को महत्व न देकर मानवता का पाठ सीखना आरम्भ किया। यही एक युग का परिवर्तन कहा जा सकता है।

रामानन्द सम्प्रदाय का प्रचार

ऐतिहासिक विचारों के आधार पर आचार्य रामानन्द का धार्मिक प्रचार सम्पूर्ण भारत में उनके आगे ही फैल गया था। प्रजा सब राम-भक्ति की ओर झुक गई थी और उसके ऊपर रामानन्द के उपदेश की गहरी छाप पड़ गई थी। धार्मिक प्रचारों के अन्दर धार्मिक विद्रोह आया ही करते हैं, वे रामानन्द के सामने भी आये। उस समय अनेक मत-मतान्तर प्रजा के भीतर घर बनाये बैठे थे। उनमें से नाथ पंथ तथा गुसाइयों का नागा दल विशेष बलवान् थे। ये दोनों फिरके शैव धर्म के भीतर थे। इनमें भी नाथ पंथ का प्रचार उस समय बहुत था। क्योंकि उसमें बड़े-बड़े सिद्ध योगी तान्त्रिकी सिद्धियों से परिपूर्ण देखे गये थे। गोरख-नाथजी जैसे प्रतापी सिद्ध—जिनके बारे में हम आगे कबीरजी के प्रकरण में लिखेंगे—उस समय विद्यमान थे। आरम्भ में सबसे अधिक विद्रोह रामानन्दियों से गोरखपंथी नाथों का हुआ है। नाथ-पंथ को उनका बढ़ता हुआ राम-भक्ति का प्रचार सहन नहीं था। रामानन्द सम्प्रदाय में भी सिद्ध योगीश्वरों की कमी नहीं थी। वे भी सम्पूर्ण देश में उतर चुके थे। उन्होंने नाथों के विद्रोह को रोका और अपना प्रचार आगे बढ़ाया।

पयोहारी कृष्णदासजी का तारानाथ से संघर्ष और गलता गद्दी की स्थापना

राजस्थान की पवित्र भूमि वर्तमान जैपुर के अन्दर नाथों का शक्तिशाली अड्डा था। जैपुर उस समय आमेर राजधानी के रूप में था। महाराजा पृथ्वीराज नाथपंथ के शिष्य थे। उनके गुरु का नाम तारानाथ था और वह बड़ा ही प्रतापी सिद्ध था। पृथ्वीराज का कार्यकाल ई० (१५०३–१५२७) है।

पृथ्वीराज की पत्नी का नाम महारानी बालाबाई था। वे भी वैष्णव धर्म की शिष्या थीं। उनके गले में रामानन्द सम्प्रदाय की

कण्ठी बँधी हुई थी। बालाबाई का इतिहास राजस्थान के अन्दर मेवाड़ की महारानी मीराबाई के ही समान था। वे राम की अनन्य भक्ता थीं। उन्हें आचार्य रामानन्द के प्रतापी नाती शिष्य कृष्णदासजी पयोहारी से दीक्षा मिली थी। पयोहारीजी अपने युग के महान् योगेश्वर थे। यह दीक्षा बालाबाई को उनके पीहर (पिता के घर) ही मिली थी। उनके गले में रामानन्द सम्प्रदाय की जो कण्ठी बँधी हुई थी वे उसका बड़ा ही सम्मान करती थीं। वे भगवान् राम का पूजन भी किया करती थीं तथा वैष्णव धर्म-मर्यादा के अनुसार अपनी सभी दिनचर्याएँ भी पूरी करती थीं। यह बात सर्वविदित थी। तारानाथ भी इस बात को जानते थे परन्तु वे इसे पसन्द नहीं करते थे। वे चाहते थे कि बालाबाई भी उनके नाथपंथ में प्रवेश करें। इस हेतु उन्होंने महाराजा पृथ्वीराज से बालाबाई पर दबाव डालने को कहा। पृथ्वीराज ने भी बालाबाई पर दबाव डाला और उन्हें नाथपंथ में प्रवेश होने को कहा, परन्तु बालाबाई ने उसे स्वीकार नहीं किया। बालाबाई ने उत्तर दिया कि उनका वैष्णवधर्म बहुत ही महान् है तथा उनके गुरुदेव भी बहुत ही महान् हैं, वे उनका उपदेश नहीं त्यागेंगी और न किसी दूसरे धर्म में ही प्रवेश करेंगी। पृथ्वीराज इस पर रुष्ट हुए और उन्होंने बालाबाई से वैमनस्य रखना आरम्भ कर दिया। पति-पत्नी का वैमनस्य बहुत ही बुरा होता है। महारानी बालाबाई संकटों में पड़ गईं। उन्होंने यह प्रतिज्ञा की थी कि वे अपना नश्वर शरीर भले ही छोड़ देंगी परन्तु अपनी रामोपासना को कभी भी नहीं छोड़ेंगी। प्रतिदिन उनके सामने नई-नई बातें आती थीं जिन्हें उन्होंने शान्ति से सहन किया। स्त्रियाँ परतन्त्र होती हैं। उन्हें अन्याय के द्वारा भी घरों में सताया जा सकता है। वे अन्धी बनकर पतियों के नियंत्रण में चलें और दुख भोगें यही उनके भाग्य में लिखा रहता है। बालाबाई महारानी थीं तो क्या वह विधान उनपर भी लागू रहा।

काल दौड़ता चला गया। भगवान् राम का चक्र बदला।

उन्होंने अपनी भक्ता की ओर देखा और उस पर दया की। उनकी प्रेरणा हुई और ध्यान में बैठे हुए पयोहारीजी का मस्तिष्क घूमा। उन्हें उसी समय अपनी शिष्या के क्लेशों का ज्ञान हुआ। पयोहारी कृष्णदासजी असाधारण योगेश्वर थे। उनकी प्रतिभा का उस युग में कोई नहीं था। उन्होंने अन्तर प्रेरणा पर ध्यान दिया और आमेर की राजधानी में प्रकट हो गये। नाथ के आश्रम के निकट किसी पवित्र जगह में उन्होंने अपनी धूनी लगाई और वहाँ विराजमान हो गये। नाथ भी राजस्थान का बहुत बड़ा सिद्ध था। वह युग भी सिद्धियों का था। हजारों सिद्ध हर एक फिरके में चारों तरफ देश में भरे थे। तारानाथ को मालूम हो गया कि कोई तेजस्वी विरागी महापुरुष वहाँ पहुँच गया है। वह पयोहारीजी को राज-धानी से भगा देना चाहता था। उसने अपने शिष्यों को आज्ञा दी कि वे आश्रम के सामने से उस सन्त को हटा दें। शिष्यों ने जाकर पयोहारी से कहा कि वे नाथों के आश्रम के सामने से चले जायँ। पयोहारीजी ने मान लिया और वे अपनी जलती हुई धूनी को एक वस्त्र में रखकर वहाँ से चल दिये और गलता गंगा के पास जाकर बैठ गये। वहाँ उन्होंने अपनी धूनी लगा ली। उधर चेलों ने जाकर नाथ से सभी समाचार कह दिया। नाथ समझ चुका था कि कोई प्रतापी सिद्ध है। नाथ उन्हें (पयोहारी) वहाँ भी नहीं रहने देना चाहता था। इस कारण उसने अनेक उपद्रव आरम्भ किये। यह एक नाथधर्म और रामानन्दी वैष्णवधर्म की सिद्धियों का युद्ध था। नाथ ने पयोहारीजी को मारने को अनेक तान्त्रिक प्रयोग किये परन्तु वे सब निष्फल हुए। पयोहारीजी ने सबको काट दिया। नाथ ने एक मन्त्रबल से उनपर पहाड़ भी फेंका जो उनके तेज से दूर ही गिर गया। उस पहाड़ को आज तक जैपुर के लोग नाथ की डूँगरी कहते हैं। अन्त में क्रोध से भरा हुआ नाथ शेर का रूप बनकर पायोहारी को फाड़ खाने के लिये उन पर झपटा। एक भयानक शेर को अपने ऊपर टूटते हुए देख पयोहारी ने कहा

'गदहा हो जा'। पयोहारीजी के मुख से निकलते ही वह वाक्य, नाथ उसी क्षण गदहा हो गया। नाथ की सारी सिद्धियाँ पयोहारी जी ने छीन लीं। नाथ लौटकर आश्रम में फिर नहीं गया।

धर्मात्मा राजा गुरु का दर्शन करके अन्न-जल ग्रहण करता था। प्रातःकाल वह आश्रम में गया परन्तु गुरु का वहाँ दर्शन नहीं हुआ। राजा ने शिष्यों से हाल पूछा। उन्होंने सारा समाचार बता दिया। राजा समझ गया कि उस योगेश्वर के संघर्ष में उसका गुरु समाप्त हो गया। राजा विनम्र भाव से नंगे सिर और नंगे पैर पयोहारीजी के सामने गया और मस्तक जमीन में धर कर गुरु का हाल पूछा। पयोहारीजी ने कहा, 'तेरा गुरु गदहा बना उधर घूमता है। उसके कान में स्वर्णमुद्रा पड़े हैं जाकर देख ले'। राजा गया और गदहा को देखा और मुद्राओं से पहचाना। वह उस गदहा को पकड़ कर पयोहारीजी के सामने लाया और कहा 'प्रभो !' 'इसे मनुष्य बना दीजिये'। पयोहारीजी ने उत्तर दिया, 'यह बड़ा ही क्रूर नाथ है, अपने ही पाप से गदहा बना है। राजा ने बार-बार विनय की कि वे उसे मनुष्य बना दें। उसकी विनय पर ध्यान देकर महाराज ने कमण्डल से जल पढ़कर उस पर फेंका और वह मनुष्य बन गया। नाथ पयोहारीजी के सामने काँपने लगा। पयोहारीजी ने आज्ञा दी, आज से यह सिर पर लकडी धरकर धूनी में डाले और जब तक जीवित रहे इसी तरह करे। बाद में इसका परिवार लकडी डाले तब यह क्षमा होगा'। नाथ ने स्वीकार किया और चला गया। वह नाथ जब तक जीवित रहा पयोहारीजी की धूनी में लकडी डालता रहा और उसके मरने के बाद उसका वंश आज तक उस धूनी में उसी तरह लकड़ी डालता है। पयोहारी की वह धूनी अखण्ड रूप में आज तक जल रही है। आगे जाकर राजा को पता लगा कि महारानी बालाबाई के वे ही पयोहारीजी पूज्य गुरुदेव हैं तब उसकी और भी उनकी ओर श्रद्धा बढ़ गई और वह भी पयोहारीजी का शिष्य बन गया। उसी समय पयोहारीजी ने गलता

गद्दी की स्थापना की जो रामानन्द सम्प्रदाय की राजस्थान में महान् गद्दी बनी। राजस्थान के मुख्य केन्द्र पर नाथ पंथ को उखाड़ कर रामानन्दी वैष्णवधर्म का झण्डा खड़ा हुआ।

यह पिछले रामानन्द सम्प्रदाय का संक्षिप्त इतिहास है। यह स्टेट से सम्बन्धित सही-सही इतिहास है। महारानी बालाबाई की साल (राजभवन) आज आमेर में बनी हुई है। वह प्राचीन स्मारक तथा राजा प्रजा की पूजा के लिये जैपुर स्टेट से सुरक्षित है। वहाँ पयोहारीजी के नरसिंह भगवान् (शालिग्राम) आज तक विद्यमान हैं। बालाबाई को आशीर्वाद और वरदान के साथ वे पूजन करने के लिये दिये गये थे। उनका एक विस्तृत और विलक्षण इतिहास है जो यहाँ पढ़ने को नहीं मिलेगा। इसे दूसरे रामादल के या जैपुर के धार्मिक इतिहास में पढ़ें।

पयोहारीजी का प्रताप आगे चल कर सारे राजस्थान पर फैल गया। ऐतिहासिक खोज में पता लगा है कि वहाँ उनके शिष्यों की उस प्रान्त में ग्यारह गद्दियाँ बनीं उन गद्दियों में गलता के ही समान रेवासा नाम की भी दूसरी गद्दी बनी। उस गद्दी के आचार्य पयोहारीजी के प्रधान शिष्य अग्रजी महाराज हुए। उन्हीं अग्रजी के प्रिय शिष्य श्रीनाभाजी ने 'भक्तमाल' जैसा लोक-प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखा, जो आज तक संसार में विद्यमान है।

रामानन्द सम्प्रदाय में पिछले युगों से यह प्रसिद्धि विश्वास के साथ चली आ रही है कि विश्ववन्द्य पयोहारीजी ने अपना शरीर विसर्जन नहीं किया है। वे आज तक अपने योग-बल से अमर हैं। इस बात की पुष्टि में यह प्रमाण है कि देश भर में कहीं भी पयोहारीजी की समाधि नहीं बनी है। उनके अनुयायी उनका पूजन उसी भावना से हर जगह करते हैं।

नाथ सम्प्रदाय से आगे बढ़ने की कथा देश भर की इसी तरह है। उसका विवरण यहाँ देना आवश्यक नहीं है।

रामानद सम्प्रदाय में रामादल की स्थापना

इतिहास के युग बड़े वेग से बदलते हैं। उनके बदलने में मनुष्य कारण नहीं होते अपितु उनका क्रम किसी अदृष्ट शक्ति के हाथ में होता है। संसार जान कर अथवा अजान कर हर एक युग के उसी विधान में खिचता है। रामानन्द सम्प्रदाय के युग क्रमशः दैवी विधान में बदले हैं। हर युग का इतिहास आश्चर्यजनक है। १५६४ वि० सम्वत् के लगभग गलता गद्दी को स्थापना हो गई और वह एक रामानन्दी सन्तों का सुदृढ़ गढ़ बन गयी। उसी समय देश के सभी प्रान्तों में जगह-जगह उनके असंख्यों गढ़ बनना आरम्भ हो गये। देहाती ग्रामीण प्रजा के भीतर भी उस सम्प्रदाय का प्रचार हुआ और वहाँ भी रामानन्दियों के स्थानों का जाल-सा पुर गया। राम-जानकी तथा हनुमानजी के मन्दिरों की स्थापना हुई और उनमें विरागी सन्त विराजमान हुए। ये ही सब सन्त धर्मगुरु भी थे और प्रजा ने भी इनका श्रद्धा से उपदेश सुना था। उसी समय विरागी सन्तों का एक ऐसा भी दल था जो सारे प्रान्तों में घूम-घूम कर रामानन्द के पवित्र उपदेशों का प्रचार करता था। वह दल अनेक छोटी-छोटी जमातों के रूप में घूमता था। हिन्दू प्रजा उनकी बड़ी श्रद्धा से सेवा करती थी। प्रजा के जन, धन और धर्म की रक्षा करना उस दल का काम था। दल के ऊपर एक विरागी महापुरुष रहता था। उसी के नियन्त्रण में सारा दल काम करता था। उसे आचार्य कहते थे। उसके नीचे बहुत से आचार्य रहा करते थे जो जमातों का नियन्त्रण करते थे। ऐतिहासिक आधार की खोज में उस दल के निर्माणकर्ता तथा संगठनकर्ता का नाम आचार्य भावानन्द था। ये आचार्य सम्भवतः विक्रमी की सोलहवीं

शताब्दी के आरम्भ में हुए हैं और आचार्यपाद रामानन्द की तीसरी या चौथी पीढ़ी में माने गये हैं।

देश में विचरने वाला दल हर तीसरे वर्ष कुम्भ के पर्वों पर इकट्ठा हुआ करता था। इसके लिये प्रयाग, नासिक, उज्जैन और हरिद्वार के स्थान निश्चित थे। कुम्भपर्वों पर इकट्ठे होकर सभी दल के आचार्य देशहित के लिए विचार करते थे और पुनः अच्छे सन्देश लेकर देश में उतर जाते थे। आगे चलकर विरागी दल की संख्या बहुत ही बढ़ गई तब उस दल का नामकरण हुआ और सर्व-सम्मत से वह नाम 'रामादल' चुना गया। 'रामादल' नाम विरागियों को बड़ा ही प्रिय हुआ इसलिये कि वह उनके इष्टदेव राम के अथवा उनके महान् आचार्य स्वामी रामानन्द के नाम से सम्बन्धित था। रामादल का शुद्ध शाब्दिक स्वरूप 'रामदल' है परन्तु जन-साधारण की भाषा में वह रामादल कहा जाता है। उसका कारण सरल उच्चारण का प्रवाह है।

युग फिर बदला और रामादल के अन्दर एक सुरक्षादल बन गया। वह दल अस्त्र-शस्त्रों से भी सुसज्जित रहता था। शनैः-शनैः वह दल अधिक बलवान बना दिया गया और उसका नाम 'रामादल का अखाड़ा' रखा गया। उस अखाड़े के भीतर सुशिक्षित विरागी सैनिक रहते थे। वे समय पाकर शत्रुओं से लड़ भी सकते थे। आगे चलकर वह दल फौजी बेड़े के रूप में बदल गया परन्तु नाम उसका वही रहा।

पाठकों को स्मरण रखना चाहिये कि मुसलमानी शासन देश में जमा हुआ था। कभी-कभी वह हिन्दुओं पर अत्याचार भी करता था। रामादल के सैनिक उसका कड़ा सामना करते थे और उनसे हिन्दुओं की रक्षा करते थे।

विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी में 'रामादल का अखाड़ा' फौजों के रूप में बदल गया और उसमें तोपखाना भी रहने लगा। इस बीच में लम्बा युग गया और आचार्य भावानन्द के बाद आचार्य

अनुभवानन्द हुए और उनके बाद आचार्य बिरजानन्द हुए। बिरजानन्दजी बड़े ही प्रतापी आचार्य हुए। उन्होंने अपने युग का केन्द्र राजस्थान चुना। एक अड्डा, उनका जैपुर था और दूसरा भरतपुर था। इन दोनों अड्डों में सैनिक सामग्रियाँ रहा करती थीं और समय-समय पर सैनिक लड़ाइयों में उपयोग होती थीं।

देश में हिन्दू राष्ट्र की नींव तो आचार्य रामानन्द के सामने से ही पड़ चुकी थी; परन्तु आगे चल कर वह विशेष रूप से दृढ़ हो गई। देश में अनेक छोटे-छोटे हिन्दू राज्य बन गये और उन्हें रामादल की फौजों का सहयोग मिला। राजस्थान के सभी राजा उन फौजों की सेवा करते थे और उनकी ही छत्र-छाया में रहकर शासन भी करते थे। आश्चर्य का इतिहास तो यह है कि लड़ाइयों के विजय के बाद भी रामादल के सन्त त्यागी ही बने रहते थे। शासन-विभाग उनके उन शिष्यों के हाथों में ही रहता था जो उस समय के राजा होते थे।

सोलहवीं और सत्रहवीं विक्रमी शताब्दी बड़े ही महत्व की थीं। इनमें भी बड़ी-बड़ी विभूतियाँ धरातल पर आईं और उन्होंने हिन्दू प्रजा की रक्षा की। विश्ववन्द्य तुलसीदासजी भी इन्हीं शताब्दियों में भूतल पर आये। उनका विवरण हम आगे उनके ही प्रकरण में देंगे।

सन्त इतिहास के अन्दर एक और स्मरण की बात है और वह यह है कि उन्हीं युगों में गुसाईं नागाओं का भी दल संगठित हो गया था। उनमें भी बड़े-बड़े प्रतापी सिद्ध सन्त हुए थे। वे भी काल पाकर सैनिक रूप में आ गये थे। उनके उस दल का नाम प्रजा ने शंभूदल चुना था। उस दल ने भी समय-समय पर हिन्दू-जाति की रक्षा की थी। उसके भी देश में बड़े-बड़े अड्डे थे। कभी-कभी ऐसा भी होता था कि रामादल और शंभूदल परस्पर भी लड़ जाया करते थे। विशेष करके उनकी लड़ाइयाँ कुम्भ पर्वों पर ही हुआ करती थीं। साधारण तौर से देश के अन्य स्थानों में भी संयोगवश दोनों दल लड़ जाते थे। इसी प्रकार युगों का अन्त होता गया और नये युग आते गये।

आचार्य बालानन्द

विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी के अन्त में रामादल में एक महान् प्रतापी अवतार हुआ। इतिहास के सुनहरे पन्नों में उनका नाम बालानन्द लिखा गया। वे महापुरुष आचार्य बृजानन्दजी के शिष्य थे। उन्होंने रामादल को शक्तिशाली बना दिया। जैपुर के अन्दर जो रामादल का अड्डा था उसे एक विशाल गद्दी का रूप दे दिया गया और वह सब कार्य उन्हीं के द्वारा हुआ। वह गद्दी बालानन्द की गद्दी के नाम से विख्यात हुई और आज तक उसी तरह विद्यमान है।

आचार्य बालानन्दजी बड़े ही संयमी और प्रतिभाशाली थे। रामानन्द की पिछली समय की पीढ़ियों में वे बड़े ही प्रतापी और दूरदर्शी आचार्य माने गये। उन्होंने रामादल में अनी अखाड़ों की स्थापना की और एक रचनात्मक सैनिक ब्यूह बनाया। उनकी सेना में तीन अनी (दिगम्बर अनी, निर्वाणी अनी और निर्मोही अनी) और सात अखाड़े (दिगम्बर अखाड़ा, निर्वाणी अखाड़ा, निर्मोही अखाड़ा, खाकी अखाड़ा, निरावलम्बी अखाड़ा, सन्तोषी अखाड़ा और महानिर्वाणी अखाड़ा) बनाये गये। इन्हीं अखाड़ों की सुरक्षा में रामादल ने विशेष उन्नति की। विष्णु स्वामी अखाड़ा, झाड़िया निर्मोही अखाड़ा और मालाधारी अखाड़ा आदि पीछे से और भी बने परन्तु ये सभी अखाड़े उन्हीं तीन अनियों के ही भीतर रहे। आचार्य बालानन्द की पादुका सब जगह पूजित हुई। इस समय तक वे सभी अनी अखाड़ा विद्यमान हैं और सभी रामादल के भीतर संगठित हैं।

सत्रह सौ उन्तीस (१७२९) वि० सम्वत् में आचार्य बालानन्द ने चार सम्प्रदाय का संगठन किया। उन्होंने उस समय माध्व सम्प्रदाय, विष्णु स्वामी सम्प्रदाय तथा निम्बार्क सम्प्रदाय के वैष्णवों को अपने रामादल में मिला लिया। वह संगठन बड़ा ही सुन्दर था। सभी चार सम्प्रदाओं के वैष्णव भाई-भाई के समान एक जगह

रहने लगे। रामानन्द सम्प्रदाय, विष्णु स्वामी सम्प्रदाय, माध्व सम्प्रदाय तथा निम्बार्क सम्प्रदाय मिलकर एक रूप बन गये। इन बातों को हुए युग चले गये परन्तु वह संगठन अभी तक वैसा का का वैसा ही चल रहा है। यह सब आचार्य बालानन्दजी का प्रताप है।

बन्दावीरवैरागी माधोदास

रामादल इतिहास के साथ हम उस वीर महापुरुष को भी नहीं भूल सकते जिसका नाम भारतीय इतिहास में बन्दावीरवैरागी माधोदास के नाम से अमर है। कोई भी हिन्दू जाति की माता से पैदा होनेवाला ऐसा पुरुष देश में नहीं होगा जो उस विजेता धर्मगुरु के नाम को सुनकर श्रद्धा से अपना मस्तक न झुका दे। पंजाब देश का वह पिता था, उद्धारक था, गुरु था और पूज्य देवता था।

वैरागी माधोदास रामानन्द सम्प्रदाय में दीक्षित हुए थे। उनके पूज्य गुरुदेव का नाम जानकीदासजी था। वैरागी बनने के बाद उनका नाम माधोदासजी रखा गया। वैराग्य लेते ही माधोदासजी तपस्या में लीन हो गये। विक्रम सम्वत् की अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ में ही माधोदास भारत की भूमि पर विद्यमान थे। उस युग में खूँखार मुसलमानों का फिर आतंक हुआ था। पंजाब देश उस समय गहरे दुःखों में डूब रहा था। हिन्दुओं की तलवार टूट चुकी थी। बड़े-बड़े पंजाब के वीरों का भी अन्त हो चुका था। वह युग वस्तुतः हिन्दुओं के लिए दुर्भाग्यपूर्ण था।

दक्षिण गोदावरी के तट पर वैरागी माधोदास तपस्या कर रहे थे। जिस पवित्र स्थान में उनकी तपस्या हो रही थी वह नासिक पंचवटी के सन्निकट अभी भी बना हुआ है। पंजाब के हाहाकार ने सारे देश के हिन्दुओं को विचलित कर दिया था। वह करुण चीत्कार वीरवैरागी के भी कानों में पड़ी। उनका ध्यान छूटा और आसन डोल गया। विरागियों के धर्म में देश और जनता के लिये सब कुछ करना, अस्त्र-शस्त्र भी उठाना कर्तव्य लिखा है। माधो-

दास समर्थ थे, वीर थे और अपनी प्रथा के अनुसार कर्तव्यपरायण थे। उनके सुदृढ़ भुजदण्डों में बल था। उन्होंने अपन तलवार उठाई और पंजाब आये।

पंजाब में एक ज्योति जगी, हिन्दुओं के हृदय को आश्वासन मिला और उन्होंने एक प्रतापी रक्षक को पाया। संगठित संस्थाएँ माधोदास से मिल गईं और युद्ध आरम्भ हुआ। मुसलमानों के साहस छूट गये, शाही सेनाएँ भाग खड़ी हुईं। पंजाब के आकाश पर विरागी का झण्डा खड़ा हुआ। यह उस विजेता वैरागी की विजय थी। माधोदास सन्त थे इसलिये शासन पंजाब के सिक्खों को सौंपकर पहाड़ों में भजन करने चले गये। उस समय सिक्ख और हिन्दू दो नहीं थे। एक ही रक्त थे और एक ही आत्मा थे।

विरागी के चले जाने के बाद मुसलमान पुनः संगठित हुए और पंजाब में फिर अत्याचार आरम्भ किये। माधोदास पुनः युद्ध-क्षेत्र में आये और पुनः मुसलमानों को हराया इसी प्रकार बार-बार पंजाब को उन्होंने विजय किया।

हम पहले लिख चुके हैं कि विरागी विजय करने के बाद भी शासन हाथ में नहीं लेते थे। उसे गृहस्थों को सौंपकर वे अपने राम-भजन में ही लग जाते थे। यही प्रथा वीरवैरागी माधोदास की भी थी। यह प्रथा अच्छी थी परन्तु राजनीतिक विभाग में कहीं पर बुरी भी बताई गई थी। वीरबैरागी का लम्बा इतिहास है। उनका बलिदान हिन्दुओं के लिये अमर गान है। पंजाब देश के साथ सारा देश उस महान् आत्मा का सदा के लिये ऋणी है।

रामादल के विस्तृत इतिहास की झलक हमने अत्यन्त संक्षेप में दी है। इन पवित्र अक्षरों में भी अपने धर्मगुरुओं की कथाएँ राष्ट्र की पीढ़ियाँ पढ़ लें और उन्हें न भूलें यह भी इसका एक उद्देश्य है।

रामानन्द-संप्रदाय में तुलसीदास

रामोपासना के क्षेत्र में आचार्य रामानन्द और उनके शिष्यों के बाद उस महान् पुरुष का प्रादुर्भाव हुआ जिसके द्वारा न केवल भारत ही अपितु सारा भूमण्डल ही कृतार्थ हो गया था। इतिहास के सुनहरे पन्नों में लिखा हुआ हम उसका नाम तुलसीदासजी महाराज पढ़ते हैं। भारत के नर-नारियों में इस महापुरुष के प्रति कितनी श्रद्धा है उसे व्यक्त कर देने के लिये हमारे कोश में कोई शब्द नहीं है। उनका लिखा हुआ श्रीरामचरितमानस आज मानव-जाति के लिये एक स्वर्गीय अमर संदेश है। एक झोपड़ी से लेकर राजभवनों तक में बैठकर सभी वर्ग के प्राणी उस अमृत को बार-बार पीते हैं और नहीं अघाते।

आचार्य रामानन्द की चौथी पीढ़ी में तुलसीदासजी का प्रादुर्भाव हुआ है। उनके जन्म की कथा बड़ी मार्मिक है। जन्म के बाद ही उन्हें माता-पिता ने त्याग दिया, इसका कारण उनका विचित्र जन्म था। बत्तीस दाँतों के सहित माता के उदर से जन्म लिया और जन्मते ही मुख से 'राम' शब्द उच्चारण किया। आकृति भी बड़े बालक की-सी थी। इन सब लक्षणों को देखकर घरवाले भयभीत हो गये। लोग कहने लगे कि घर में किसी राक्षस ने जन्म लिया है। माता हुलसीजी ने अपनी दासी से बालक को रात में ही ले जाने को कहा। वे अनुभव कर चुकी थीं कि उन्हें शीघ्र ही मृत्युलोक में चले जाना है और उनके शरीर-त्याग के बाद लोग उस बालक को कहीं भी फेंक देंगे। उन्होंने अपना भूषण भी दासी को सौंप कर कहा कि वह अपनी ससुराल में बालक को ले जाकर पाल ले। दासी ने वैसा ही किया और बालक को लेकर चली गई। उधर माता हुलसी ने जन्म से पाँचवें दिन बालक के त्यागने के

बाद अपना नश्वर शरीर भी त्याग दिया। वे भगवान् के परमधाम को चली गईं। पाँच वर्ष और पाँच महीना के बाद बालक को पालने वाली दासी भी भगवान् के लोक को चली गई। तदनन्तर बालक का संसार में कोई नहीं रहा। संसार उसे छूना भी नहीं चाहता था क्योंकि उसके ध्यान में वह बहुत ही अशगुनी था। अनाथ बालक की दीनता का कोई पार नहीं था। द्वार-द्वार बिल-लाते फिरा परन्तु किसी ने भी दया का हाथ रक्षा के लिये उसकी ओर नहीं उठाया। कौन जानता था कि वह असहाय अभागी बालक एक दिन संसार का सबसे बड़ा महापुरुष होगा। करोड़ों, अरबों प्राणी युगों-युगों तक उसका नाम श्रद्धा से स्मरण करेंगे।

भगवान् के पवित्र धाम श्रीचित्रकूट में स्वामी नरहरियानन्दजी महाराज एकान्त भगवद्भजन करते थे। आचार्य रामानन्द के प्रधान शिष्य अनन्तानन्दजी के शिष्य थे। उन्हें भगवान् शंकर ने दर्शन देकर उस बालक को लाने की आज्ञा दी। स्वामी नरहरिया-नन्दजी हरिपुर नाम के ग्राम में गये और वहाँ उस बालक को प्राप्त किया। उन्होंने अपनी कृपा का पवित्र हाथ उस बालक के मस्तक पर फेरा और बड़े प्रेम से उठाकर उसे अपने हृदय से लगा लिया। संसार ने जिसे अभागा समझ कर त्याग दिया था, महात्मा ने उसे हृदय से लगा लिया। यह अमर इतिहास सदैव मनुष्यों के हृदय में महात्माओं के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करता ही रहेगा। स्वामी नरहरिया-नन्दजी उस बालक को अवध ले गये। वहाँ १५६१ वि० सम्वत् में माघ शुक्ल-पञ्चमी-शुक्रवार के दिन उसका यज्ञोपवीत संस्कार हुआ तथा वैष्णवधर्म को मर्यादा के साथ उसे मंत्र का उपदेश मिला। उन दयालु महात्मा ने उस बालक का नाम तुलसीदास रखा। भाग्य की रेखाओं का किसी को पता नहीं कब क्या करती हैं! तुलसीदास का अध्ययन उसी समय प्रारम्भ हो गया और वह उन्हीं महात्मा की देख-रेख में हुआ। तुलसीदास अब अभागे और अनाथ बालक नहीं थे। अब वे एक भारत के प्रख्यात स्वामी

नरहरियानन्दजी के प्यारे शिष्य थे। इन्हीं पूज्य गुरुदेव को महाकाव्य 'रामचरितमानस' रचते समय तुलसीदासजी ने आरम्भिक वन्दना में बड़ी ही श्रद्धा से स्मरण किया है—

'बन्दौं गुरुपद कंज कृपा सिंध नर रूप हरि।
महामोह तमपुञ्ज जासु बचन रबिकर निकर'॥

तुलसीदासजी का जन्म वृत्तान्त बहुत ही रोमाञ्चकारी है। जन्म लेने के बाद ही वे किन-किन कठिनाइयों में प्रतिक्षण गिरते गये पढ़ने से हृदय स्तब्ध हो जाता है। यह प्रसंग 'मूलगुसाईंचरित' ग्रन्थ से लिया है। इसका समर्थन स्वयं तुलसीदासजी ने अपनी 'विनय पत्रिका' में किया है।

द्वार-द्वार दीनता कही काढ़ि रद परि पाहूँ।
है दयालु दुनि दश दिशा दुःख दोष दलन क्षम कियो न संभाषण काहू।
त्वचा तजत कुटिल कांट ज्यों तज्यो मातु पिता हूँ।
काहे को रोष दोष काहिधौं मेरे ही अभाग मोसों सकुचत सब छुइ छाहूँ॥
दुखित देखि सब सन्तन कह्यो शोचे जनि मन माहूँ।

(विनय २७६ पद)

प्रभु राम से विनय करते समय अपने जन्मकाल की दुःखभरी कहानी तुलसीदासजी कहते हैं 'हे राम, हर एक द्वार पर पाँव पड़कर दीनता सुनाते हुए दाँत काढ़-काढ़ रोया। दुनिया में दशों दिशाओं के अन्दर दुःख-दरित्रता को हटाने वाले अनेकों दयालु हैं पर किसी ने भी मेरी बात नहीं पूछी। साँप की कैंचली के समान माता-पिता ने भी मुझे त्याग दिया। हे प्रभु! मैं किस पर रोष करूँ और किसे दोष दूँ यह सब मेरा ही अभाग था। सभी लोग

मेरी छाया छूने में ही सकुचाते थे। हे नाथ। वैसी दयनीय परिस्थिति में तुम्हारे भक्त सन्तान ने मुझे हृदय से लगाया मेरे आँसू पोंछे और मुझे अभय दी।

महापुरुषों के जन्म तथा अन्त बड़े ही घटनात्मक होते हैं। साधारण मानव का हृदय उन्हें देखकर विचलित हो उठता है। तुलसीदासजी एक महान् विभूति थे उनके चरित्र यदि हृदय को विचलित करने वाले हों तो आश्चर्य की बात ही क्या है। भक्त लोगों ने उन्हें भगवान् वाल्मीकिजी का अवतार माना हैं। 'कलि कुटिल जीव निस्तार हेतु वाल्मीकि तुलसी भये' भक्तमाल' में नाभाजी ने ऐसा ही लिखा।

तुलसीदासजी की मेधाशक्ति बाल्यकाल में बड़ी ही प्रखर थी। वे एक बार जो कुछ सुन लेते थे वह उन्हें स्मरण हो जाता था। उनका बहुत कुछ अध्ययन उनके गुरुदेव के द्वारा ही हुआ। कुछ काल के लिए उन्हें उनके गुरुदेव ने काशी भेज दिया। वहाँ उन्होंने रामानंदपीठ पंचगंगा घाट में रहकर साम्प्रदायिक परंपरा के साथ समस्त्र शास्त्रों का अध्ययन किया। कहते हैं कि थोड़े ही काल के अन्दर तुलसीदासजी ने सम्पूर्ण शास्त्रों का क्रमशः अध्ययन कर डाला। उनकी प्रतिभा को देखकर बड़े-बड़े विद्वान् उनका आदर करने लगे। तुलसीदासजी अब विश्व का कल्याण करने में समर्थ हो गये। उनका ध्यान फिर उस ओर गया जिसके लिये वे आये थे।

आचार्य रामानन्द स्वामी तथा उनके अनेक शिष्यों ने भूलोक में लम्बे काल तक रहकर जिस विशाल साम्राज्य को धार्मिक क्षेत्र में स्थापित किया था उसका बहुत-सा उत्तरदायित्व तुलसीदासजी के ऊपर भी आया। सारा देश रामोपासना से व्याप्त हो रहा था। लोक के सामने मर्यादा पुरुषोत्तम राम का महान् आदर्श रूप रखा जा चुका था और जनता उनकी ओर बड़ी श्रद्धा और विश्वास के साथ झुक चुकी थी। लोग राम के दिव्य चरित्र सुनने के लिए बहुत ही उत्सुक रहते थे परन्तु संस्कृत भाषा में होने के कारण

उन्हें उसका कम लाभ होता था। प्राचीन युगों में भगवान् वाल्मीकिजी ने उस अमृत को आदिकाव्य के रूप में संसार के सामने बहाया था। उन युगों में निरन्तर ही सभी प्राणियों ने उसे पिया था। काल चक्र के बदलने पर वह मधुर रस प्रायः सभी के लिये दुर्लभ-सा हो गया। उपासना के क्षेत्र में वह एक बड़ी हो कमी थी। तुलसीदासजी ने बाल्यकाल में ही उसका अनुभव किया था। उनके गुरु भगवान् ने जब उन्हें बार-बार उस काव्य को देव-वाणी में सुनाया, उसी समय उन्हें हृदय में बोध हुआ कि यह दुर्लभ चरित्र सर्वसुलभ हो तो कितना अच्छा है। वे उनके लिये संकल्प करते हैं।

मैं पुनि निज गुरुसन सुनी कथा सुसूकर खेत,
समुझी नहि तसि बालपन तब अति रहेऊ अचेत।
श्रोता वक्ता ज्ञान निधि कथा राम की गूढ़,
किमि समुझों मैं जीव जड़ कलिमल ग्रसित विमूढ़

जदपि कही गुरु बारहिं बारा, समुझ परीक छु मति अनुसारा
भाषाबद्ध करब मैं सोई, मोरे मन प्रबोध जेंहि होई।

(रामचरित मानस)

वे कहते हैं, 'मैं इस महाकाव्य को भाषावद्ध (मनुष्यों की भाषा में) करूँगा जिससे मुझे शान्ति मिले। गोस्वामीजी अपनी शान्ति में विश्व की शान्ति का अनुभव करते हैं। यह उनकी अबोध बाल्य काल की प्रतिज्ञा है। वे जिस महान् कार्य को करने को आये थे उसी के पूरा करने के लिये उनकी आत्म प्रेरणा हुई। वे उसकेलिये खड़े हुए और उसे पूरा किया।

आचार्य रामानन्द ने अपने शिष्यों को लोक की भाषा में अपने विचार जनता तक पहुँचाने का आदेश दिया। उसका पालन उनके सभी शिष्यों ने किया। आचार्य ने लोक की भाषा में हिन्दी का रूप खड़ा किया और उसी में उन्होंने स्वयं ही कुछ रचनाएँ की। हिन्दी के क्षेत्र जो कुछ भी साहित्य का रूप सर्वप्रथम देखा गया

वह आचार्य रामानन्द की ही देन है; इसीलिये वे हिन्दी के जन्मदाता माने जायँगे। उनके तमाम शिष्य-प्रशिष्यों ने हिन्दी में ही अपनी-अपनी रचनाएँ की। गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी हिन्दी को ही अपनाया और उसी में उस स्वर्गीय गान 'श्रीरामचरितमानस' को लिखा जो लोक को बहुत ही प्रिय हुआ। उन्होंने उस महान् कमी को पूरा किया जो रामोपासना के साम्राज्य में नितान्त खटकती थी। तुलसीदासजी की रचना में क्या स्वर्गीय रस भरा है इसे भारत की जनता जानती है। हजारों-हजारों महाकवियों ने इस भूलोक में अपना-अपना अमर गान किया है परन्तु तुलसीदासजी का भी यह अमर गान अपने स्थान में अनुपम माना गया है। इसमें न केवल गाना और सुनना ही है किन्तु जीवन की बहुमूल्य सामग्री भी विद्यमान है। सारा लोक जो इसकी ओर खिचा है यह तुलसीदास का अलौकिक तप है।

बहुत से मत-मतान्तर—जो भारत में फैले हुए थे और जिनका समन्वय आचार्य रामानन्द स्वामीजी ने देश हित के लिए किया था—गोस्वामीजी ने बड़े ही सुन्दर ढंग से अपने रामायण में मिला लिया। राम और शिव के अन्दर ऐसा सम्बन्ध स्थापित किया जो राम और शिव के उपासकों को एक जगह ले आया। रामायण सब को प्रिय हो गई और रामायण का उपदेश भी सब को गुरुमन्त्र बन गया। रामायण ने वेद का स्थान ले लिया और रामायण का ज्ञान ही वेद का ज्ञान बन गया। प्रजा उस बात को धर्म रूप में बिना संदेह के स्वीकार कर लेती है जो रामायण में आ गई है। अनेक प्रकार के आडम्बर अब रामायण के सामने से हटते जा रहे हैं इसलिए कि उसके प्रकाश में उनका अस्तित्व नहीं ठहरता।

तुलसीदासजो रामानन्द सम्प्रदाय के प्रबल प्रचारक हैं परन्तु प्रत्यक्ष में वे कहीं भी सम्प्रदाय का नाम नहीं लेते हैं। आचार्य रामानन्द ने श्री सम्प्रदाय के मूलतत्व श्रीराम की उपासना को लोक के सामने रखा और उनके प्रतापी शिष्यों ने उसका व्यापक प्रचार किया, उसी उपासना को तुलसीदासजी अपने अथक् परिश्रम

से अमर बना दिया। आचार्य रामानन्द के व्यापक विचार, व्यापक कार्य तथा व्यापक आदेश निबन्ध के रूप में तुलसीदास ने रामायण में संग्रहीत कर दिये। तुलसीदासजी सर्वसमर्थ होते हुए भी जीवन भर रामानन्दी हो बने रहे। उनके हृदय में उस रामानन्दीयत्व के लिये बड़ी ही श्रद्धा थी, इसलिए कि वे उसी में पाले गये, उसी में विद्वान् बनये गये और उसी में तुलसीदास के नाम से प्रख्यात कराये गये। वे उसे कैसे भूल सकते थे कि उस असहाय बालक को जिसे संसार ने जन्मते ही तिरस्कृत करके फेंक दिया था उसे उसी रामानन्द सम्प्रदाय ने हृदय से लगाया और प्यार से उसके आँसू पोंछे। तुलसीदास यदि चाहते तो अपने नाम पर एक नया सम्प्रदाय चला सकते थे परन्तु उन्होंने नहीं चलाया। वे दास ही बने रहे और उसी में अपना गौरव समझे।

भारत की प्रजा आज तुलसीदास से बहुत ही प्रभावित है। इस समय उन्हें राष्ट्र की निधि ही मान लिया गया है। हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में उनका भारी सम्मान है। वस्तुतः वे उस क्षेत्र के एक विषय बन गये हैं। उनके ऊपर अनेकों ग्रन्थ लिखे गये हैं और लेखकों ने उन्हें अपने-अपने रुचि के साथ लिखा है। सभी लेखों में उनके व्यक्तित्व के प्रति बड़ी ही श्रद्धा व्यक्त हुई है परन्तु कहीं-कहीं वह श्रद्धा मोह के तरफ मुड़कर कुछ लेखकों को प्रमाद में खींच ले गई है। लेखकों ने वहाँ यही सोचा है कि तुलसीदास जैसे महान् व्यक्ति को उनके तर्कपूर्ण मत में खींच लें। उसी से उनके लेख की कुछ प्रतिष्ठा होगी। वैसे स्थलों में हम लेखकों को अनर्गल भी लिखते देखते हैं। 'तुलसीदासजी स्मार्त वैष्णव थे', उन्हें रामानन्द सम्प्रदाय में नहीं घसीटा जा सकता' इत्यादि अनेक लेख आश्चर्य से पढ़ने में आते हैं। स्मार्त वैष्णव कैसे? क्या स्मार्त वैष्णव भी कोई संसार में सम्प्रदाय है। तुलसीदासजी रामानन्द सम्प्रदाय में दीक्षित हुए हैं और उसके अनुसार उन्होंने वैष्णवधर्म के नियमों का जीवन भर पालन किया है। वे राम के अनन्य भक्त हैं और उन्हीं की कृपा के आधार पर जीवित रहे हैं। राम उसके

परात्पर ब्रह्म है और सभी देवता, उनके शासन में खड़े हैं यही, तुलसीदास को मान्य है।

हरिहिं हरिता विधिहि विधिता शिवहि शिवता जोदई।
सोई जानकी पति मधुर मूरति मोदमय मंगल मई।

(विनयपत्रिका)

तुलसीदासजी ने अपने राम को विष्णु, ब्रह्मा और शिव के लिए भी विष्णुत्व, ब्रह्मत्व और शिवत्व देते हुए लिखा है। उनके मत में चराचर जगत् ही राम के अधीन है। यह उनके उपास्यदेव राम का स्वरूप है। वे राम से अलग दूसरे देवताओं को साधारण मानते हैं और उनसे अपने लिए कुछ भी नहीं माँगते हैं। यह तो केवल रामानन्दी वैष्णवधर्म को ही मान्य है इसलिए तुलसीदासजी रामानन्दी वैष्णव हैं ही। उन्हें स्मार्त वैष्णव कहना भारी भ्रम है। जिन लोगों ने स्मार्त वैष्णव कहा है उन्होंने वैष्णव धर्म के सम्बन्ध में या तुलसीदासजी के सम्बन्ध में कुछ भी अध्ययन नहीं किया है। धर्मों की परिभाषायें जाने बिना धर्मों के बारे में निर्णय देना बुद्धिमता नहीं होती। लोगो ने वैष्णवधर्म के सम्बन्ध में यही समझा है कि जो विष्णु परक देवता को छोड़कर सभी देवताओं का खण्डन करे तथा खास तौर से जो शिव का खण्डन करे वही वैष्णव होता हैं। पंच देवों की उपासना स्मार्त करते हैं। इसलिए उन देवताओं का नाम लेने वाला भी स्मार्त हो सकता है। तुलसीदासजी ने सभी देवताओं का नाम अपने लेखों में लिया है, इसलिए उनके साथ स्मार्त शब्द भी जोड़ा जाय वैष्णव तो वे हैं ही अतः उन्हें स्मार्त वैष्णव कहना चाहिए। इस प्रकार लेखक महानुभावों के मस्तिष्क में भाव उत्पन्न हुए होंगे। यही एक भ्रम है। तुलसीदासजी पर यह भाव लागू करना भूल है और वैष्णवधर्म को भी वैसा समझना भूल है। वैष्णवता यह नहीं कहती कि किसी देवता का या शिव का विशेष रूप से खण्डन किया जाय। यदि

कोई वैष्णव शिव का या अन्य देवताओं का खण्डन करता है तो उसके उपास्यदेव का व्यापक स्वरूप कट जाता है क्योंकि वह सब में व्यापक है, यही भावना वैष्णवधर्म की है इसी को आधार मानकर गोस्वामीजो ने अपने इष्ट को व्यापक माना है—'सियाराम मय सब जग जानी' कहा है। यदि वे किसी देवता का खण्डन करते तो उनके सियाराम का खण्डन हो जाता। उपासना के सम्बन्ध में वे केवल राम के ही अनन्य उपासक हैं दूसरे देवता के नहीं। दूसरे देवताओं के जो नाम हैं उन्हें उन्होंने उपासना के रूप में ग्रहण नहीं किया है, उन्हें केवल राम की महत्ता सिद्ध करने को ही ग्रहण किया है। श्रीरामायण में शिव पार्वती के प्रसङ्ग से राम की महत्ता बढ़ाई गई है। उसी प्रकार गणेश आदि के नाम का भी उपयोग हुआ है। तुलसीदासजी की विचार धारा को लोगों ने समझा नहीं उसी से उन्हें स्मार्त वैष्णव लिखा है।

तुलसीदासजी रामानन्द सम्प्रदाय के भीतर नहीं थे यह प्रमाद की सी बात है। लोग खैंच तानकर कहेंगे कि तुलसीदास ने स्वयं ऐसा कहीं स्वीकार नहीं किया है, यह बात नहीं है। पहले लोगों को तो इस बात की शङ्का ही नहीं थी क्योंकि वे तुलसीदासजी को भलीभाँति समझते थे। तुलसीदासजी का जीवन इतिहास या उनके विचार और व्यवहार इतने प्रसिद्ध थे कि तुलसीदासजी के रामानन्दी होने में कोई शंका ही नहीं थी। पाश्चात्य अन्वेषकों ने तो उन्हें साफ-साफ रामानन्दी ही लिखा है।

As a teacher he was liberal minded ever for a Ramanandi...like all Hindus he was endwed with great tolerance of belief and was able to find a room for at least, passive acceptance of Doctrines which did not rise with him to a place in the sphare of the true and abiding.

(Theology of Tulsi Dass by Carpenter)

कार्पेंटर साहब कहते हैं कि तुलसीदासजी एक रामानन्दी

उपदेशक होते हुए भी बड़े उदार विचार के थे। हिन्दुओं के समान वे भी धार्मिक भावना में विश्वास रखते थे। दूसरों के विचारों को अपने में मिलाने की उनमें बड़ी क्षमता थी, यही कारण था कि उनके तरफ सभी मतवादी खिंचे और उनके अनुयायी बने। ऐसा होते हुए भी उन्होंने कोई अपना पंथ अलग नहीं चलाया। यह एक यथार्थ निर्णय है इसी प्रकार बहुत से महानुभावों ने तुलसीदासजी को स्पष्ट रूप से रामानन्दी ही लिखा है।

तुलसीदासजी के रामानन्दीयत्व होने के सम्बन्ध में स्वयं श्रीतुलसीदासजी ही हर एक क्षण घोषणा करते हैं 'उनकी घोषणा उनके पंचभौतिक शरीर तथा साहित्यक शरीर दोनों से हो रही है। तुलसीदासजी का प्राचीन मूलचित्र जो आज संसार के सामने है स्पष्ट करता है कि वे रामानन्दी वैरागी विरक्त सन्त थे। उनके मस्तक पर श्री युक्त उर्ध्व पुण्ड्र तिलक = गले में तुलसी की युगल कण्ठी तथा हृदय पर चमकता हुआ यज्ञोपवीत आदि चिह्न संसार को कह रहे हैं कि विश्ववन्द्य तुलसीदास रामानन्द सम्प्रदाय के अनुयायी हैं। यह आसानी से समझा जा सकता है कि कोई भी इतर सम्प्रदाय का अनुयायी उन चिह्नों को कभी नहीं धारण कर सकता। किसी भी सम्प्रदाय के चिह्न उसके अनुयायी को बिना कहे बताने में समर्थ होते हैं। एक स्मार्त गले में तुलसी की कण्ठी और मस्तक पर उर्ध्व पुण्ड्र तिलक कभी नहीं कर सकता। वह राख या चन्दन का त्रिपुण्ड मस्तक पर तथा रुद्राक्ष का मनिकाँ या माला गले में लटका सकता है। यदि हाथ में एक बाँस की लकड़ी का दण्ड लिये, सिर मुड़ाये तथा गले में रुद्राक्ष का कण्ठा डाले किसी को भी देखा जाय तो जानकार व्यक्ति कहेगा यह अद्वैतवादी सन्यासी है। यदि मुँह पर कपड़ा बाँधे सिर के बाल नुचाये तथा सूत की मोटी सी झाड़ू पीछे लटकाये हुए किसी भी व्यक्ति को देखा जाय तो बिना पूछे कोई भी समझदार कहेगा कि यह जैन धर्म का सन्त है। इसी प्रकार बौद्ध, क्रिश्चियन तथा मुहम्मडन आदि के सन्तों को हम आसानी से उनके सम्प्रदायिक चिह्नों के नाते से पहचान सकते हैं। वैष्णवधर्म के भीतर भी कई

सम्प्रदाय हैं। हम उनके अनुयायियों की पहचान बिना पूछे आसानी से चिह्नों के आधार पर कर सकते हैं। निम्बार्क सम्प्रदाय के वैष्णव सन्त को जब हम देखेंगे तब उसके मस्तक पर झीनी दो रेखाओं का तिलक जिसके बीच में बहुत ही हल्की एक बिन्दी होगी और गले में तुलसी की युगल कण्ठी होगी। उसी तरह विष्णु स्वामी सम्प्रदाय के सन्त का भी तिलक निम्बार्क सम्प्रदाय से मिला सा होगा परन्तु उसके भ्रवोर्मध्य से नीचे सिंहासन नहीं होगा। युगल कण्ठी तुलसी की एक सी ही होगी। गौड़ सम्प्रदाय के सन्त का तिलक नासिका के अग्रभाग से नोकदार शुरू होगा और आगे भ्रवोर्मध्य से दो झीनी रेखाओं में परिणित हो जायेगा। यही तिलक माध्वसम्प्रदाय का भी है। इस प्रकार विरक्त आश्रम के महात्माओं की पहचान उनके नियत सम्प्रदायिक चिह्नों के आधार पर आसानी से की जा सकती है। तुलसीदासजी के बाह्य चिह्नों के आधार पर कोई भी सम्प्रदायिक रहस्यों को जानने वाला विद्वान् उन्हें रामानन्द सम्प्रदाय से अलग नहीं कह सकता। यह तो है गोस्वामीजी के भौतिक शरीर के सम्बन्ध का परिचय अब उनके साहित्यक शरीर पर विचार करते हैं।

महापुरुष का साहित्य भी उसका शरीर होता है। वह जब तक भूतल पर रहता है तब तक वह महापुरुष भी जीवित माना जाता है। तुलसीदासजी का साहित्य शरीर खुलकर यही घोषणा करता है कि तुलसीदासजी उसी लक्ष्य पर परमार्थिक जीवन को लेकर खड़े हैं जा रामानन्द स्वामी का निर्धारित किया हुआ है। आचार्य रामानन्द ने दशरथनन्दन राम का मर्यादावतार उपासना काण्ड में ध्यान और पूजन के लिये स्वीकार किया है। उन्होंने इस अवतार को परात्पर ब्रह्म माना है और इसकी भक्ति के द्वारा जीव का कल्याण बताया है। उनके सम्प्रदाय में इन्हीं साकार ब्रह्म श्रीराम और पराशक्ति श्रीसीताजी की विग्रह पूजन में ली जाती हैं। दार्शनिक सिद्धान्त के आधार पर निराकार ब्रह्म और साकार ब्रह्म

में आचार्य रामानन्द ने एकता स्थापित की है। उनके राम निर्गुण और सगुण दोनों एक ही हैं। तुलसीदासजी भी इन्हीं रामानन्द के दाशरथि राम को परात्पर ब्रह्म मानते हैं और इन्हीं की कृपा द्वारा मोक्ष प्राप्ति स्वीकार करते हैं। तुलसीदासजी का सारा साहित्य इन्हीं राम की भक्ति में ओत-प्रोत है। आचार्य रामानन्द ने जिस व्यापक राम-भक्ति का स्वरूप संसार में स्थापित किया तुलसीदास ने उसी व्यापक राम-भक्ति को अमर बना दिया। उसी भक्ति पर उन्होंने 'रामचरितमानस' जैसा महाकाव्य रचकर संसार को दे दिया जिसका प्रकाश एक झोंपड़ी से लेकर राजभवनों तक फैल रहा है। जब तक तुलसीदास का साहित्य भूलोक में रहेगा तब तक रामानन्द से अलग उन्हें कोई नहीं कर सकेगा। यह ऐतिहासिक आधार पर तुलसीदास का साम्प्रदायिक परिचय दे दिया।

इसी बीच में एक बात और आवश्यक रूप में कह देना है और वह यह है कि जो लोग रामानन्द से तुलसीदास को अलग बताने का प्रयास करते हैं वे बहुधा स्मार्त भावना के हैं। स्मार्त-धर्म के अन्दर शक्ति और शैवों का सम्मिश्रण है। इन लोगों की पिछली परिपाटी तुलसीदासजी को राम-भक्ति का प्रचार करते देख उनका जन्मभर भारी विरोध करती रही। उन्हें, धूर्त, अवधूत, जुलाहा आदि बताकर जनता में उनकी प्रतिष्ठा घटाती रही, इसका उत्तर तुलसीदासजी बड़े मार्मिक और नम्र शब्दों में देते रहे—

धूत कहौ, अवधूत कहौ, रजपूत कहौ, जुलहा कहौ कोऊ।
काहू की बेटी से बेटा न ब्याहब, काहू की जातिबिगार न सोऊ।

तुलसी सर नाम गुलाम है रामको जाको रुचै सो
कहै कुछ ओऊ ।
माँगिकै खैवो, मसीदको सोइवो, लैवोको एकु न दैवोको दोऊ।

(कवितावली)

तुलसीदासजी ने उन लोगों को उत्तर दिया है जो उनकी निन्दा करने मे लगे थे। गोस्वामीजी का यह उत्तर अपने हृदय को पकड़कर शान्ति के रूप में देना हुआ है। वे कहते हैं 'भले ही मुझे कोई धूर्त कहे, चाहे अवधूत (अवधूत = शब्द का समाज से बहिष्कृत, स्मार्त्तों ने अर्थ किया है) कहे, चाहे कोई रजपूत कहे और चाहे कोई जुलाहा कह दे, जो मन हो सो कहे, मुझे किसी की बेटी से अपना बेटा नहीं ब्याहना है और न किसी की जाति ही बिगाड़ना है। मैं तो अयोध्यानाथ रामचन्द्र का नामी गुलाम हूँ। मुझे तो माँग के खाना है और मसान में सोना है, मुझसे किसी से क्या मतलब ?'

कोऊ कहै, करत कुसाज दगाबाज बड़ो,
कोऊ कहै राम को गुलाम खरो खूब है ।
साधु जानें महा साधु खल जाने महा खल,
बानी झूँठी-साँची कोटि उठत हबूब है ।
चहत न काहूँ सों न कहत काहू की कछु;
सबकी सहत उर अन्तर न ऊब है ।
तुलसी को भलो पोच हाथ रघुनाथ ही के,
राम की भगति भूमि मेरी मति दूब है ।

(कवितावली)

कुछ लोग कहते हैं कि मैं बड़ा ही धोखेबाज और आडम्बरी हूँ कुछ लोग कहते हैं कि मैं खूब खरो = पक्का धूर्त, राम का भक्त हूँ, यह तो ऐसी ही बात है जो जैसा होता है वह वैसा ही दूसरे को जानता है। सन्तजन मुझे महान् सन्त जानते हैं और खललोग

मुझे महाखल कहते हैं। मेरे पीछे इसी प्रकार की झूठी-साँची सहस्रों प्रकार की लहरें उठा करती हैं परन्तु मैं उन्हें अपने अन्तःकरण को दबाकर सह लेता हूँ, किसी से भी कुछ नहीं कहता और न कुछ बदला ही चाहता हूँ। मैं तो बुरा-भला जैसा भी हूँ रघुनाथजी का ही हूँ और उन्हीं की भक्ति के आश्रय में जीवित हूँ।

यह गोस्वामीजी के जीवन का इतिहास है। उनके पीछे हठ-धर्मी ब्राह्मणों का विरोधी दल चलता था जो उन्हें हर तरह से नीच और पाखण्डी बनाकर जनता के बीच में अपमानित करना चाहता था। उन स्मार्तों की यही इच्छा थी कि तुलसीदास राम-भक्ति का प्रचार न कर सकें अथवा रामानन्दी झण्डा न उठा सकें। तुलसीदास के प्रचार से उन लोगों का वह सिंहासन उलट जाता था जो हिन्दुओं की छाती पर बड़े बन कर पुजाने के लिये जमाया गया था। सत्य की विजय होती है, वे लोग तुलसीदास की राम-भक्ति को नहीं दबा सके और न उनके अस्तित्व को ही मिटा सके। उन्हें जुलाहा (मुसलमान) कहना तथा धूर्त दगाबाज बताना कितने शर्म की बात है। यह पिछले उन स्मार्त महानुभावों की कथा है जिन्हें यह मिथ्याभिमान था कि उनका स्मार्त धर्म और वे ही महान् थे। आज उनके उत्तराधिकारी श्रीमान् लोग तुलसीदासजी को बुरा-भला न कहकर उनसे स्मार्त-धर्म का सम्बन्ध जोड़ते हैं यह आश्चर्य की बात है। इससे उनकी कुछ भी प्रतिष्ठा नहीं बढ़ सकती, तुलसीदासजी जो हैं वे ही रहेंगे'। तुलसीदासजी अनन्य राम के भक्त हैं और पवित्र रामानन्दी वैष्णव-धर्म के अनुयायी हैं। उन्हें ऐसा ही कहना या लिखना उपयुक्त है। लेखकों को चाहिये कि उनका पवित्र चित्र संसार के सामने सही-सही रखें, जिससे भावी राष्ट्र की पीढ़ियों को उनके इतिहास की ठीक जानकारी हो।

विशिष्टाद्वैत के आद्याचार्य भगवान् बोधायन

ब्रह्मसूत्र पर विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त की विस्तृत वृत्ति लिखने वाले सबसे पहले आचार्य भगवान् बोधायनजी हुए हैं। वि० सम्वत् से लगभग सात सौ वर्ष पहले इन महान् आचार्य का जन्म मगध देश के अन्दर हुआ है। विद्वान् 'गुणाढ्य' कृत 'वृहत्कथा' नामक पैशाची भाषा के ग्रन्थ में इनका जीवन-इतिहास लिखा गया है। 'वृहत्कथा' का उल्था 'कथा सरितसागर संस्कृत ग्रन्थ में हुआ है। भगवान् बोधायन के बाद ही ब्रह्मसूत्र पर दूसरे सिद्धान्तों के भाष्य लिखे गये हैं ऐसी ऐतिहासिक धारणा है। बोधायन ने अपना मत व्यक्त करने के लिये जिस क्रम को अपनाया है दूसरों ने भी वही क्रम अपनाया है। अतः दार्शनिक जगत् के ही भगवान् बोधायन सर्वप्रथम आचार्य हो सकते हैं।

कहते हैं कि बोधायनजी सृष्टिकर्ता ब्रह्माजी के अवतार थे। उनकी महान् प्रतिभा को देखकर विद्वानों का यह विश्वास बहुत ही अंश में सही ही था। पाँच वर्ष की आयु में इनका उपनयन संस्कार हुआ और उसके बाद अध्ययन चला। अध्ययन काल में इनकी मेधा-शक्ति को देखकर बड़े-बड़े विद्वान् आश्चर्य में पड़ जाते थे। तेरह वर्ष छः माह की आयु तक ही इन्होंने सर्वशास्त्रों का अध्ययन कर डाला। उसके बाद इन्हें पढ़ाने वाला विश्व में कोई भी विद्वान् नहीं रहा।

बोधायन का पहला नाम 'उपवर्ष' था और यह 'वर्ष' के छोटे भाई थे। वर्ष के सम्बन्ध में ख्याति है कि वे व्याकरण शास्त्र के संसार में सबसे बड़े पण्डित थे। पाणिनि व्याकरण के रचयिता भगवान् पाणिनिजी महाराज इन्हीं वर्ष के शिष्य थे।

उपवर्ष का अध्ययन बहुत जल्दी समाप्त हो गया। उसके बाद

किशोर अवस्था में ही इनका ध्यान साहित्य सृजन की ओर गया। इन्होंने सर्वप्रथम द्वादशाध्याय मीमांसा पर सरल वृत्ति लिखी और उसे विद्वानों को समर्पण किया। उस अपूर्व कृति पर विद्वानों ने प्रसन्न होकर उपवर्ष को भगवान् उपवर्ष की उपाधि दी। तदन्तर पण्डितों के आग्रह पर उन्होंने एक ब्रह्मसूत्र पर विस्तृत वृत्ति लिखी और उसे भी उन्होंने विद्वानों को समर्पित किया। इस वृत्ति को पाकर विद्वान् लोग बड़े ही प्रसन्न हुए और भगवान् उपवर्ष को ज्ञान का भण्डार समझने लगे। इस महान् कृति के बदले में विद्वानों ने भगवान् उपवर्ष को पुनः भगवान् बोधायन की उपाधि दी। इस प्रकार उपवर्ष भगवान् बोधायन के नाम से लोक में प्रसिद्ध हुए।

बोधायन के समय में सम्राट नन्दिवर्धन मगध का राजा था। उसके उत्तराधिकारी को महापद्मनन्द ने मारकर सम्पूर्ण मगध देश पर अधिकार कर लिया था। उस समय मगध में एक बड़ी राजक्रान्ति हुई और शान्ति प्रिय बोधायन उसी क्रान्ति में मगध देश को छोड़कर काश्मीर चले गये। वहाँ उनका राज-पण्डितों ने बड़ा ही स्वागत किया। साथ में वे अपनी सभी कृतियों को भी ले गये और वहीं राजकोष में उन्हें स्थापित कर दिया। मीमांसा और ब्रह्मसूत्र वृत्ति के अतिरिक्त उनके और भी बहुत से रचे हुए ग्रन्थ थे उन्हें भी वहीं स्थापित कर दिया। बौधायन के निवास का स्थान एकान्त मार्त्तण्ड (वर्तमान मटन) में चुना गया और वहीं वे हरिभजन करने लगे।

काल पाकर मटन के अन्दर बोधायन को महर्षि शुकदेवजी का दर्शन हुआ। उन्होंने उन्हें मोक्ष सम्बन्धी श्रीराम-मन्त्र का उपदेश दिया। श्रीसम्प्रदाय के विरक्तोचित संस्कारों के साथ उनका नाम पुरुषोत्तमाचार्यजी रखा गया। अब भगवान् बोधायन पुरुषोत्तमाचार्यजी के नाम से प्रख्यात हुए। श्रीसम्प्रदाय की परम्परा में आचार्य रामानन्दाचार्यजी से पुरुषोत्तमाचार्यजी तेरहवें पूर्वाचार्य

हुए हैं। यह भगवान् बोधायन का इतिहास है। इसे हमने 'जाग्रति' ग्रन्थ में प्रकाशित हुए पं० रामकुमारदासजी के लेख से लिया है।

दुर्भाग्य से वह विशिष्टाद्वैत पर लिखी हुई 'बोधायन ब्रह्मसूत्र वृत्ति' आज संसार में लुप्त है। उनके दूसरे ग्रन्थ तो जहाँ-तहाँ विदेशों की लाइब्रेरियों में कुछ हैं भी परन्तु उस महान् ब्रह्मसूत्र वृत्ति का कोई पता नहीं है। काश्मीर में स्थापित मूल ग्रन्थ के नष्ट हो जाने का पिछली खोज में जो कुछ इतिहास मिलता है उसे हम आगे लिखेंगे।

रामानुज और विशष्टाद्वैत

दक्षिण भारत में उत्पन्न होने वाले स्वामी रामानुजाचार्यजी महाराज भक्ति के क्षेत्र में एक प्रतिभाशाली आचार्य हुए हैं। इनके नाम पर एक सम्प्रदाय भारत में चल रहा है। ये आचार्य भी विशिष्टाद्वैत के घेरे में ही हुए हैं और इनके द्वारा भी लोक में विशिष्टाद्वैत का प्रचार हुआ है।

दार्शनिक जगत के अन्दर एक भ्रान्ति फैली हुई है और लोग यह समझते हैं कि विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के सर्वप्रथम आचार्य रामानुज स्वामीजी ही हुए हैं और उन्हीं के द्वारा इस सिद्धान्त की आवाज लोक ने सुनी है, यह बात नहीं है। रामानुज स्वामी न तो इस सिद्धान्त के सर्वप्रथम आचार्य हैं और न उनके द्वारा इस सिद्धान्त की सर्वप्रथम लोक ने आवाज ही सुनी है। वे इस सिद्धान्त के केवल प्रचारक और मानने वाले हैं। विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के सर्वप्रथम आचार्य भगवान् बोधायन हैं और उन्हीं के द्वारा संसार ने विशिष्टाद्वैत का जयघोष आज से लगभग पौने तीन हजार वर्ष पहले सुना। बोधायन भगवान् रामानुज स्वामी से लगभग पौने दो हजार वर्ष पहले रामभक्तों की परम्परा में हुए हैं। उनका विवरण हम पहले दे चुके हैं।

स्वामी रामानुजाचार्यजी का आरम्भिक इतिहास देखने से पता

लगता है कि आरम्भ में उनका सैद्धान्तिक स्वरूप भी कोई ठीक नहीं था। वे पहले यामुनाचार्यजी की जोड़ी हुई छोटी-सी भक्त-मण्डली में शामिल हुए थे। यद्यपि वह भक्त-मण्डली यामुनाचार्यजी के शिष्यों की ही थी परन्तु उसके पास कोई भी सिद्धान्त का संस्कृत ग्रन्थ या भाष्य नहीं था। यामुनाचार्यजी के परमधाम जाने के बाद जब रामानुज स्वामी ने उस भक्तमण्डली में शिष्यत्व ग्रहण किया तब उन्होंने इस कमी का अनुभव किया और इसे पूरा करने का संकल्प किया। उस समय दक्षिण देश में शैवों का बड़ा जोर था वे किसी दूसरे मत को उठने देना भी नहीं चाहते थे। उनके पास वेदान्त भाष्यादि सभी ग्रन्थ थे इस कारण वे और भी मजबूत थे। उनके सामने वह यामुनाचार्यजी की भक्त-मण्डली बहुत ही निर्बल थी। वह भी चाहती थी कि उसके यहाँ भी कुछ भाष्य आदि ग्रन्थ होते। यही यामुनाचार्यजी की भी इच्छा थी परन्तु वह उनके जीवन में पूरी नहीं हुई। रामानुज स्वामीजी ने इच्छा पूरी करने का उस भक्त-मण्डली में संकल्प किया। उन्होंने उसी भक्त-मण्डली में कहा कि भाष्य अवश्य तैयार करना है परन्तु 'बोधायन वृत्ति' के बिना देखे वह काम कठिन होगा। 'प्रपन्नामृत' आदि कई ग्रंथों में इसका वर्णन हुआ है।

ततो यतीन्द्रः श्रीभाष्यं कर्तुं कामो महायशाः।
विलोकनं विना शक्यं वृतेर्बोधायनस्य वै ॥
वेदान्त भाष्य करणमिति निश्चत्य योगिराट्।

(प्रपन्नामृत अध्याय ३.२)

रामानुज स्वामी वेदान्त भाष्य लिखवाना चाहते हैं; परन्तु स्वयं लिखने में असमर्थता प्रकट करते हैं। वे कहते हैं कि बोधायन वृत्ति के बिना देखे वेदान्त भाष्य लिखना कठिन है—

विद्वानों में यह प्रसिद्धि थी कि 'बोधायन वृत्ति' काश्मीर में है। रामानुज स्वामी उस वेदान्त वृत्ति को देखने के लिये काश्मीर

जाने को तैयार हुए। उन्होंने कूरेश नाम के पण्डित को साथ लिया और काश्मीर चले गये।

कूरेश सहितो धीमान् शारदापीठ मभ्यगात्।
यतीन्द्रो विबुधान् सर्वान् शारदापीठमाश्रितान्।
शास्त्र वादेन निर्जित्य तोषायामास शारदाम्।
सन्तुष्टया तया दत्तां वृत्ति बोधायनस्यताम्।
संगृह्य सहसा धीमान् रंगं प्रति समाययौ।
शारदापीठ विवुधा राहित्यात्पुस्तकस्य च।
तस्य तत्र हि कोशानां विशोधन दिने तदा।
तत्पन्थानं ययुर्वेगाज्जात शंका यतीश्वरे।
मासाद्नस्तरं मार्गे तत्कोशं यति पुङ्गवात्।
वलात्संगृहा ते दुष्टाः शारदापीठ माययुः।

(प्रपन्नामृत अध्याय ३२)

इसका यह आशय है कि स्वामी रामानुज कूरेश को लेकर काश्मीर चले गये और वहाँ शारदापीठ में जाकर वहाँ के विद्वानों को शास्त्रार्थ में जीत लिये। उस पर वहाँ की सरस्वती देवी प्रसन्न हो गई और उसने वह बोधायन वृत्ति उन्हें दे दी। उस वृत्ति को पाकर रामानुज स्वामी काश्मीर से चल दिये। पीछे वहाँ के पण्डितों ने पुस्तक गायब देख कर शंका की कि वे दक्षिणी पुस्तक चुरा ले गये। कुछ लोगों ने पीछा किया और एक महीने के अन्दर रामानुज और कूरेश को पकड़ लिया। उन लोगों ने जबरदस्ती उनसे वह पुस्तक छीन ली और काश्मीर शारदापीठ लौट गये। स्वामी रामानुज के हाथों से वृत्ति छीन गई तब वे बड़े दुःखी हुए। उस पर कूरेश ने कहा कि एक महीने भर रात्रियों में उसने उसका गम्भीर अवलोकन किया है और वह उसे याद हो गई है। यह सुनकर रामानुज को सन्तोष हुआ और वे रंगजी लौट आये।

रात्रिकालेषु तत्सर्वं मयैवालोकितं दृढम् ।
तत्सर्वं हृदये मेऽद्य वर्तते त्वत्कटाक्षतः ।

(प्रपन्नामृत अ० ३२)

इसका आशय ऊपर लिख दिया ।

इस प्रसंग में शारदा का रामानुज स्वामी को पुस्तक देना भावना से अलग सत्य आलोचना में ले जाता है। सरस्वती की दी हुई पुस्तक विद्वान् कैसे छीन ले गये? उसने अपने दातव्य की रक्षा नहीं की? वह तो उनकी बुद्धि फेर सकती थी जिससे वे रामानुज का पीछा ही नहीं करते? अथवा उन्हें अन्धा कर देती जिससे वे रामानुज को देखते ही नहीं? यह सब कुछ नहीं, वह शारदा झूठी थी और उस वैसे कथानक से योग से आचार्य का चरित्र बहुत ही नीचे चला जाता है। अस्तु हम यह विवाद यहाँ नहीं करते हम यह कहते हैं कि कूरेश ने स्वयं ही याद की हुई बोधायन वृत्ति रंगजी में आकर एक दूसरे भाष्य के रूप में लिख दी जो आगे रामानुज भाष्य के नाम से प्रकाशित हुआ।

इस प्राचीन और प्रामाणिक इतिहास से हमें यह ज्ञान होता है कि विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त स्वामी रामानुज से बहुत ही प्राचीन है। उससे उनकी परम्परा का भी पहले कोई सम्बन्ध ही नहीं था क्योंकि उनके पास विशिष्टाद्वैत सम्बन्धी पहले कोई ग्रन्थ या भाष्य ही नहीं था। श्रीभाष्य कूरेश ने विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त पर लिखा है परन्तु वहाँ रामानुज की आचार्य परम्परा में भगवान् बोधायन नहीं आये हैं। इस कारण विशिष्टाद्वैत का पूर्व सम्बन्ध भी रामानुज सम्प्रदाय से नहीं जुटता। अतः यहाँ यही कहा जा सकता है कि लोक में विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त की धारा स्वामी रामानुज से पहले प्रचलित थी और उससे रामानुज के मूल सम्बन्ध से कोई भी सम्बन्ध नहीं था। स्वामी रामानुज ने आरम्भ में जिस भक्त-मण्डली में शिष्य बन के प्रवेश किया था। वह यामुनाचार्यजी के पाँच-दस

भक्तों की ही मंडली थी। उसमें केवल भक्ति की तरंगें ही उद्वेलित थीं परन्तु उसके पास कोई भी सिद्धान्त का रूप नहीं था। भक्ति के पक्ष से रामानुज स्वामी ने दूसरी धारा से जो रामोपासना के रूप से लोक में प्रचलित थी—विशिष्टाद्वैत मत लिया है। उपासना उन्होंने नारायण मन्त्र को अलग ही स्थिर की। श्रीभाष्य—जो कूरेश के द्वारा तैयार कराया गया—उसमें कोई भी मौलिक आचार्यत्व की झलक नहीं दीखती वह बोधायन ब्रह्मसूत्र वृत्ति की आद्योपान्त नकल है, यह पीछे इतिहास में स्पष्ट हो चुका है। इन सब बातों से रामानुज स्वामी विशिष्टाद्वैत की पिछली धारा के अन्तर्गत उनके एक प्रचारक ही माने जा सकते हैं।

बोधायन ब्रह्मसूत्र वृत्ति के बारे में एक दुःखद विचार और यह है कि उससे भाष्य का दूसरा रूप तो बना किन्तु उसके जन्म ने संसार के साहित्य की एक बहुमूल्य-अनुपम वस्तु को नष्ट कर दिया। रामानुज स्वामी जब काश्मीर से उस वृत्ति को साहस के साथ लेकर भागे और एक महीने के बाद जब उन्हें पीछा करने वालों ने पकड़ लिया तब वे उनके सामने चोर साबित हो गये। उन्होंने उनके साथ जो भी व्यवहार किया हो उसे वे जानें परन्तु इस छीना-झपटी में भगवान् बोधायन की वह प्यारी पाण्डुलिपि—जो डेढ़ हजार वर्ष की अवस्था में स्वाभाविक ही जरारूप को प्राप्त हुई होगी—अवश्य ही चूर्ण हो गई। यदि किसी अंश में वह बची भी होगी तो अभागे छीनने वाले अद्वैतवादियों ने ही उसके प्रति अनहित सोचा होगा। जो कुछ भी हो उस वृत्ति के विनाश का वही काल प्रतीत होता है। यदि रामानुज स्वामी उसे लेकर नहीं भागते तब तो वह जैसी की वैसी ही बनी रहती और काल को अतिक्रमण करके वह संसार के उत्सुक प्राणियों को मिल जाती।

———

रामानन्द और रामानुज विवाद

रामानन्द स्वामी और रामानुज स्वामी के सम्बन्ध में लोक में एक बहुत बड़ा विवाद फैला है। वह विवाद कुछ तो इतिहासकारों की भूलों का है और कुछ रामानुज सम्प्रदाय की तरफ से लाया हुआ है। इतिहास में कहीं-कहीं रामानुज सम्प्रदाय की परम्परा के भीतर रामानन्द का होना लिखा है यह भूल है। रामानन्द की परम्परा अलग स्वतन्त्र है और रामानुज से विशाल है। रामानुज के भीतर रामानन्द को लिखने से उसका इतिहास बिगड़ता है और एक मिथ्या विवाद खड़ा होता है। 'भारतवर्ष का इतिहास' के लेखक ने रामानन्द को रामानुज का शिष्य लिखा है। यह सर्वथा मिथ्या है। उस लेखक को यह भी पता नहीं है कि जब रामानन्द का प्रादुर्भाव जगत् में हुआ था उससे पहले ही रामानुज परमधाम चले गये थे। इसी तरह किसी इतिहास में रामानुज की सम्प्रदाय के अन्तर्गत रामानन्द को लिखा है तो किसी में उनका मतानुयायी उन्हें लिखा है। ये सब बातें बिना सम्प्रदाय रहस्य समझे या बिना मतों के भेद समझे ही लिखी गई हैं। इनसे भी लोक में मिथ्या भ्रान्ति फैली है। अंग्रेज इतिहासकारों ने रामानन्द को रामानुज का पाँचवाँ आचार्य लिखा है। उन्होंने इसका तर्कयुक्ति से कोई विवरण नहीं दिया है कि किस आधार से रामानन्द रामानुज के पाँचवें आचार्य हैं। डा० विल्सन साहब ने अपने 'Religion of the Hindus' (हिन्दुओं का धर्म) पर ग्रन्थ लिखते समय रामानन्द के प्रकरण में ऐसा ही लिखा है परन्तु उन्होंने भी उसे तर्क से वहाँ सिद्ध नहीं किया है। कहीं कहीं कुछ संकेत 'भक्तमाल' ग्रन्थ की ओर दूसरे अंग्रेज़ी के लेखकों ने किये

भी हैं परन्तु वहाँ भी उदाहरण के सहित नहीं समझाया है कि भक्तमाल में वह किस स्थल पर है। "भक्तमाल" की खोज करने से एक छप्पय ऐसा मिला है जिसमें इस सम्बन्ध की थोड़ी सी झलक दीखती है परन्तु वह किसी-किसी भक्तमाल में ही है जहाँ उस छप्पय का पाठभेद हुआ है। वह छप्पय भक्तमाल का निम्नलिखित है :—

श्रीरामानन्द पद्धति प्रताप अवनि अमृत होय अनु
सरेऊ।
देवाचारज, द्वितीय महा महिमा हरियानन्द,
तस्य राघवानन्द भये भक्तन को मानन्द।
पत्रावलम्ब पृथिवी करी व काशी स्थाई,
चारि वरन आश्रम सब ही को भक्ति दृढ़ाई।
तिनके रामानन्द प्रगट विश्व-मंगल जिन वपु धन्यो।
श्रीरामानन्द पद्धति प्रताप अवनि अमृत हाथ अनु
अरेऊ॥

(भक्तमाल छप्पय ३५)

कहीं-कहीं किसी भक्तमाल में 'श्रीरामानुज पद्धति प्रताप अवनि ..' ऐसा भी पाठ है। सम्भव है इसी पाठ के आधार पर उन लेखकों ने रामानुज से पाँचवाँ आचार्य रामानन्द को लिखा है, क्योंकि रामानुज के गिनती करने पर पाँचवें स्थान पर आचार्य रामानन्द आ जाते हैं। परन्तु वहाँ रामानुज पाठ ही छप्पय में नहीं है तब गिनती रामानुज की कैसे होगी। वहाँ तो पाठ में रामानन्द-पद्धति पाठ हैं क्योंकि उस प्रकरण में रामानन्द के विश्वमंगल अवतार की सूचना है। रामानुज का प्रकरण नाभाजी पहले

ही सिंधुजा (लक्ष्मी) की सम्प्रदाय के साथ छोड़ आये हैं। यहाँ प्रकरण भिन्न होने से छप्पय में रामानुज-पाठ करना निरर्थक होता है। और फिर रामानुज पाठ का विरोध उसी छप्पय के आगे का ३६वाँ छप्पय भी करता है। उस छप्पय का अंश यह है—

'श्रीरामानन्द रघुनाथ ज्यों द्वितीय सेतु जग तरण कियो'।

इसका आशय यह है, रघुनाथजी ने जैसे त्रेता युग में समुद्र का पुल बाँधा उसी तरह रामानन्दजी ने भी संसार समुद्र का पुल बाँधा। इस रामानन्दजी के बाँधे हुए राम-भक्ति के पुल से असंख्यों प्राणी भवसागर से पार हुए। पुल ही, पद्धति है और पद्धति का अर्थ भी राम-भक्ति का प्रचार ही हुआ है। यहाँ रघुनाथ (परात्पर परमात्मा राम) के समान रामानन्द हैं और वे ही सेतु बनाये हैं तब ऊपर के छप्पय में जहाँ रामानन्द का ही प्रकरण है रामानुज कैसे कूद पड़ेंगे। यहाँ रामानन्द सेतु बाँधने वाले हैं तो वहाँ भी रामानन्द का ही नाम पद्धति के साथ होना चाहिये। रामानुज का नाम वहाँ जोड़ना असंगत होता है।

इसके अतिरिक्त एक और सामान्य तर्क उठता है जिसके सामने रामानुज से रामानन्द को पाँचवाँ आचार्य कहना सर्वथा अप्रामाणिक हो जाता है। वह तर्क यह है कि रामानन्द और रामानुज के बीच में जो काल का अन्तर आता है वह इतना नहीं है कि जिसके अन्दर तीन दीर्घजीवी आचार्यों को बैठाया जा सके। रामानुज ११९४ विक्रम सम्वत् में परमधाम चले जाते हैं और वह बारहवीं शताब्दी का अन्त होता है। रामानन्द उसके आगे विक्रम की तेरहवीं शताब्दी के आरम्भ में ही भूतल पर पदार्पण करते हैं। इस प्रकार रामानुज और रामानन्द का अन्तर काल कुछ भी नहीं निकलता। विशेष से विशेष १०, २० या २५ वर्ष ही निकल सकते हैं। यदि किसी अन्धे न्याय से और भी बढ़ाना चाहें तो ५० वर्ष

से तो अधिक नहीं बढ़ सकता। इतने अन्तर में हम तीन आचार्यों को कैसे बैठा सकते हैं। एक ही आचार्य स्वामी राघवानन्द ही उसमें नहीं बैठ सकते क्योंकि उनका प्रचार भूतल पर लम्बे काल तक हुआ है और वह सम्भवतः रामानुज से भी पहले हुआ निकल जायेगा। राघवानन्दजी ने विक्रम की बारहवीं शताब्दी में रामभक्ति का प्रचार किया है और उसी समय रामानुज भी हुए हैं, परन्तु रूपानुज से उनका प्रचार बहुत ही अधिक हुआ है। रामानुज का प्रचार लक्ष्मी नारायण की भक्ति का था। परन्तु वह उनके (राघवानन्द के) सामने कुछ भी नहीं था। रामानुज जीवन भर दक्षिण में घुमड़ते रहे हैं। शेष लम्बे देश में वे पहुँच ही नहीं पाये हैं, ऐसा उनका इतिहास बताता है। राघवानन्दजी का प्रचार देश में व्यापक रूप से हुआ है अतः उनका कार्यकाल रामानुज से बहुत पहले और पीछे निकल जायेगा। वे विरक्त और योगेश्वर थे। इस कारण भी रामानुज से अधिक दीर्घजीवी होंगे। उन्हें लेखकों के कथनानुसार रामानुज से पीछे चौथी पीढ़ी में बैठाना बहुत ही प्रमाद का कथन सिद्ध होता है। अंग्रेजों ने तथा कुछ भारतीय लेखकों ने उस सम्बन्ध में जो लिखा है वह सर्वथा अप्रामाणिक है। नाभाजी ने भक्तमाल के अन्दर राघवानन्द की महिमा बताते हुए जो कुछ लिखा है वह इसी तर्क का समर्थन करता है।

"तस्य राघवानन्द भये भक्तन को माँनन्द।
पत्रावलम्ब पृथ्वी करी व काशी स्थाई,
चारिवरण आश्रम सबही कहुँ भक्ति दृढ़ाई।

(भक्तमाल छप्पय ३५)

इसका आशय है, 'आचार्य महान् हरियानन्दजी के शिष्य स्वामी राघवानन्दजी हुए। उन्होंने भक्तों को बड़ा ही आनन्द पहुँचाया। इस पृथ्वी को उन्होंने अपने विजय पत्र के अन्दर कर

लिया और चारो वर्ण (ब्रह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) तथा चारो आश्रम (ब्रह्मचर्य गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास) के नर-नारियों ने उनका उपदेश सुना। उन्होंने सभी के हृदय में पवित्र रामभक्ति दृढ़ कर दी'।

यह विवरण राघवानन्दजी के सम्बन्ध में है। इससे पाठकों को ज्ञान होगा कि रामानुज और रामानन्द के बीच में स्वामी राघवानन्द ही नहीं बैठ सकते तब उनके पूर्वज दो महान् आचार्य उसमें कैसे बैठ सकते हैं। यदि इतिहासकारों ने जो भक्तमाल के ३५वे छप्पय के आधार पर ही रामानुज और रामानन्द का सम्बन्ध बताया हो तो वह मिथ्या है।

इस विवाद के बाद एक सरल समाधान उस सम्बन्ध में और यह है कि भक्तमाल के ३५वें छप्पय में 'रामानुज पद्धति' पाठ प्रेसों की भूल से या प्रतिलिपियों के प्रमाद में होने से आया है। वहाँ रामानुज शब्द ही निरर्थक है। क्योंकि रामानुज की पद्धति रामानन्द से लोक व्यवहार में चाहे पारमार्थिक विचार में सर्वथा भिन्न है। रामानुज की पद्धति में लक्ष्मीनारायण की उपासना है जिसकी मान्यता रामानन्द पद्धति में तिनकाभर नहीं है। वहाँ पर परात्पर राम और सीता की उपासना है। रामानुज के वैष्णवोचित संस्कारों के भीतर कंठ में निरन्तर तुलसी धारण करना पाप है। रामानन्द के यहाँ वैष्णवोचित संस्कारों में निरन्तर तुलसी की कण्ठी धारण करना पुण्य है। इसी प्रकार सभी रामानुज पद्धति की बातें रामानन्द पद्धति से सर्वथा विपरीत हैं। इस प्रकार रामानन्द के यहाँ रामानुज की पद्धति को विष के समान सदा देखा गया है। उसे रामानन्द के द्वारा लोक में अमृत बनाकर फैलाने का प्रमाण कैसे दिया जा सकता है। यह कथन कोरा प्रलाप है। रामानन्द की पद्धति जो पृथ्वी पर अमृत बनकर फैली है वह रामानुज की संकुचित पद्धति से बहुत ही विशाल और भिन्न

है। वही सभी वर्ग के प्राणियों को सुलभ हुई है, यही सर्व-प्रसिद्ध है। इस कारण छप्पय में वहाँ रामानुज पद्धति पाठ किसी प्रकार नहीं लाया जा सकता। वहाँ 'रामानन्द पद्धति प्रताप अवनि अमृत हुई अनुसरेउ' यही पाठ सही कहा जा सकता है। रामानुज और रामानन्द के विवाद में जो कुछ सम्पन्न दिखाया गया है, वह सर्वथा असत्य है। रामानन्द स्वतन्त्र अपनी प्राचीन पद्धति के आचार्य हैं। उनका रामानुज से कोई भी सम्बन्ध नहीं है।

मातानुयायी होने के बारे में स्पष्ट है कि रामानन्द, मत के आधार पर भी रामानुज से कोई सम्बन्ध नहीं रखते हैं। इसका निर्णय हम विशिष्टाद्वैत मत के प्रकरणों में कर चुके हैं। रामानन्द का विशिष्टाद्वैत मत है परन्तु उसके आचार्य रामानुज नहीं हैं। उसके आद्याचार्य भगवान् बोधायन हैं। भगवान् बोधायन राम-भक्ति की धारा में रामानन्द से ऊपर आचार्य परम्परा में हुए हैं और वहाँ उन्हें भगवान् पुरुषोत्तमाचार्यजी कहा गया है। इसी प्रकार रामानन्द सम्प्रदाय का प्राचीन इतिहास कहता है। रामानुज का भी विशिष्टाद्वैत मत है परन्तु उन्होंने उसे राम-भक्ति की धारा से लिया है। क्योंकि भगवान् बोधायन उनकी गुरुपरम्परा में भी नहीं है, इसलिये वे विशिष्टाद्वैत मत के साधारण प्रचारक और अनुयायी ही माने जायेंगे या यों कहें कि मत के आधार पर रामानुज ही रामानन्द की प्राचीन धारा के एक मतानुयायी हैं। इस प्रमाण से रामानन्द स्वतन्त्र परम्परा मत के आचार्य हैं वे रामानुज के मतानुयायी नहीं हैं। लोगों ने जो कुछ इस बारे में लिखा है वह मिथ्या है।

———

रामानन्द सम्प्रदाय के साथ दूसरे सम्प्रदाय

रामानन्द के श्रीसम्प्रदाय के साथ जिन दूसरे सम्प्रदायों का संगठन हुआ है, उनकी उपासना और उनके सिद्धान्तों का भी संक्षिप्त विवरण दे देना आवश्यक है। यह भी 'एक वैष्णव इतिहास का अंग है इस कारण इसे भी इस इतिहास के साथ मिला लिया गया है। ऐतिहासिक जिज्ञासुओं को इससे साधारण लाभ अवश्य होगा।

मध्वाचार्यजी और द्वैतवाद

वैष्णवाचार्यों में आचार्य मध्वाचार्यजी का द्वैत सिद्धान्त है। इनके विचार से ब्रह्म और जीव में सदैव भेद बना रहता है। सृष्टि के प्रलय काल में भी बसेरे के अन्दर रात में सोये हुए पक्षी के समान जीव तत्व ब्रह्म के व्यापक स्वरूप में चिरतक पृथक हुआ, विश्राम लेता है। रचना काल में वह पुनः जगे हुए के समान अपने व्यापार में लग जाता है। इसी प्रकार प्रलय और सृष्टि हुआ करती है और उसमें जीव सदैव द्वैतवाद का भेद रख कर ब्रह्म के व्यापकत्व में निवास करता है।

माध्व के मत में भेद पाँच प्रकार है। ईश्वर जीव में भेद, जीव जीव, जड़ और ईश्वर में भेद, जीव और जड़ में भेद तथा जड़-जड़ में भेद। ये ही पाँच भेद हैं।

ईश्वर तत्व स्वतन्त्र है और जीवतत्व परतन्त्र है। वह ईश्वर तत्व के आधीन रहता है। माध्व सम्प्रदाय में ब्रह्म का स्वरूप साकार रहता है और उसे विष्णु आदि अनेकों नामों से स्मरण किया जाता है। वह माया तत्व और जीव तत्व दोनों का हो

शासनकर्ता कहा जाता है। असंख्यों जीव उसके प्रतिबिम्ब मात्र हैं भगवान् विष्णु सर्वज्ञ नित्य, दिव्य, विग्रह रूप, प्रयोजन कर्ता तथा जगत के निमित्त कारण कहे गये हैं। माध्व मत में अवतार रूप से प्रगट हुए राम और कृष्ण में परात्पर ब्रह्म की भावना मानी जाती है।

आचार्य मध्वाचार्यजी ने शंकराचार्यजी के अद्वैतवाद का घोर विरोध किया है। उनके व्यावहारिक विचार विशेष रूप से विशिष्टाद्वैत मत के साथ चले हैं।

माध्व सम्प्रदाय का प्राचीन सम्बन्ध ब्रह्म सम्प्रदाय से है। उसकी परम्परा ब्रह्मा से चली है और आगे चलकर मध्वाचार्यजी से मिल जाती है। लोक में गोड़ सम्प्रदाय की रूप रेखा भी मध्वाचार्य सम्प्रदाय के भीतर ही कही जाती है। विशेष करके आज गोड़ सम्प्रदाय के सन्तों को ही 'माध्वसम्प्रदाय में गिना जाता है। चार सम्प्रदाय के संगठन में गोड़ सम्प्रदाय के ही वैष्णव सन्त हैं। गोड़ सम्प्रदाय के सन्त भी अपने लिये माध्व गोड़ेश्वर कहते हैं यह द्वैतवाद का इतिहास है।

विष्णु स्वामी और शुद्धाद्वैतवाद

शुद्धाद्वैत मत में ब्रह्म निर्गुण होते हुए भी सगुण माना जाता है और निराकार होते हुए भी साकार कहा जाता है। विष्णु स्वामी के मत में ब्रह्म सर्वशक्तिमान्, सर्वस्वतन्त्र और सर्वव्यापक स्वीकार हुआ है। जीवतत्व के लिये चित्कण, सूक्ष्म, नित्य तथा आनन्दस्वरूप वहाँ लिखा है। जीवतत्व को ब्रह्म का अंश माना है परन्तु वह कर्तृत्व-भोक्तृत्व धर्मवाला होते हुए भी ब्रह्म से अभेद रूप में कल्पित हुआ है। जगत् को सत्य, नित्य और भगवत् स्वरूप माना जाता है। यह मायातत्व है जो स्थूल और सूक्ष्म रूप से ब्रह्म के साथ में सदैव रहता है। प्रलय-काल में भी मायातत्व सूक्ष्मरूप से ब्रह्म का साथ नहीं छोड़ता है। विष्णुस्वामी के मत में सायुज्य मोक्ष स्वीकार हुई है।

विष्णु स्वामी का प्राचीन इतिहास रुद्र सम्प्रदाय से है। उसकी धारा (शिवजी) भगवान् से चलकर विष्णु स्वामी को मिलाती है।

विष्णुस्वामी भक्ति के प्रचारक आचार्य हुए हैं। उनके यहाँ भगवान् का परात्पर स्वरूप कृष्ण के अवतार रूप में माना गया है लोक में उनके सम्प्रदाय का एक विरक्त सन्तों का दल भी है जो देश के विभिन्न भागों में विद्यमान है। विष्णु स्वामी वैष्णवधर्म के आचार्य हैं और उनका सन्त समुदाय रामानन्द सम्प्रदाय के साथ घुला मिला हैं। यह विष्णु स्वामी सम्प्रदाय का संक्षिप्त इतिहास है।

निम्बकाचार्य और द्वैताद्वैतवाद

निम्बार्काचार्य वैष्णवाचार्यो में एक आचार्य हैं। उनका द्वैताद्वैत सिद्धान्त है। उनके यहाँ भगवान् कृष्ण के बालस्वरूप की उपासना स्वीकार हुई है और उसे ही ध्येय रूप से उनका सम्प्रदाय मानता है। उनका सम्प्रदाय सनकादिक महामुनियों से आरम्भ होकर लोक में फैलता है। आगे चलकर फिर इस देश में उसे 'निम्बार्क सम्प्रदाय' के नाम से पहचानते हैं। 'निम्बार्क सम्प्रदाय' में विरक्त सन्त महात्माओं का एक दल है जो भारत के अनेक भागों में विद्यमान है। विरक्त वैष्णव सम्प्रदायों के अन्दर निम्बार्क सम्प्रदाय के सन्त घुले मिले पड़े हैं। विशेष करके रामानन्द सम्प्रदाय के सन्तों में और निम्बार्क सम्प्रदाय के सन्तों में कोई भी अन्तर नहीं दीखता है। उपासनायें भिन्न होते हुये भी दोनों सम्प्रदायों के सन्त व्यवहारों में एक ही हैं। उनके रहन-सहन, खान-पान सभी प्रकार से एक से ही हैं।

द्वैताद्वैत मत में चित, अचित और ब्रह्म—इन तीन तत्वों का निरूपण हुआ है। ब्रह्म तथा चित्, अचित् में जिस प्रकार स्वाभाविक भेद सिद्ध है ठीक उसी प्रकार उनमें अभेद भी सिद्ध है। उनमें गुणतः और कार्यतः तो भेद प्रतीत होता है परन्तु स्वरूपतः अभेद देखा जाता है। जीव तत्व (चित्) अचित् तत्व से भिन्न कर्तृत्व

भोक्तृत्त्व धर्मविशिष्ट, प्रति शरीर से भिन्न, अणुरूप तथा भगवदाश्रित कहलाता है। अचित् तत्त्व प्राकृत, अप्राकृत तथा काल भेद से तीन प्रकार का कहा गया है। सत-रज-तम मिश्रित द्रव्य प्राकृत है। वह नित्य है और परिणामादि विकारी कहा गया है, अप्राकृत रूप त्रिगुणात्मिका प्रकृति से भिन्न है। उसे नित्य, दिव्य तथा परमपद रूप-ब्रह्मलोकादि के नाम से कहा गया है। काल भेद रूप पदार्थ नित्य शुद्ध-चेतन, सर्वशक्तिमान्, ध्येय, ज्ञेय, सर्वव्यापक, सृष्टि-स्थिति प्रलय कर्त्ता सर्वज्ञ-सर्वतन्त्र स्वतन्त्र माना गया है। इस प्रकार तीनों तत्वों का द्वैताद्वैत मत में निरूपण हुआ है। इस मत का एक स्वतन्त्र दर्शन है जो सम्प्रदाय के आचार्यों ने रचा है। द्वैताद्वैत मत भी विशिष्टाद्वैत मत से मिला सा चला है। शंकर के अद्वैत मत का इसमें भी विरोध मिलता है। इस प्रकार द्वैताद्वैत सिद्धान्त का संक्षिप्त विवरण हुआ है विशेष ज्ञान उसके ग्रन्थों से होगा।

चार सम्प्रदाय की प्रसिद्धि

भगवान् शंकराचार्यजी के बाद लोक में ब्रह्मवाद फैला और उसका प्रभाव भारतीय जनता पर उल्टा पड़ा। साधारण जन-समूह के हृदय में यह भावना उत्पन्न हुई कि जब वस्तुतः जीव और जगत् भ्रम ही है केवल ब्रह्म ही यथार्थ में प्रत्येक देहधारी हो सकता है तब तो उसे किसी भी कर्म या उपासना की आवश्यकता नहीं है। उपासना या कर्म अज्ञान कोटि के मनुष्यों में ग्रहण किये गये हैं। इस दुर्भावना ने पवित्र संस्कृति को उसी प्रकार धक्का पहुँचाया जिस प्रकार कि बौद्धों के प्राबल्यकाल में पहुँचाया गया था। उस विकट परिस्थिति में चार सम्प्रदाय के आचार्यों का क्रमशः प्रादुर्भाव हुआ और उन्होंने शंकर के विवाद को अनुपयुक्त सिद्ध कर के भक्ति का ठोस प्रचार किया। चार सम्प्रदाय के आचार्यों का नाम और सिद्धान्त हम पूर्व में लिख चुके हैं। श्री नाभाजी ने अपने 'भक्तमाल' में उन्हें इस प्रकार लिखा है—

रामानन्द उदार सुधा निधि अवनि कल्पतरु,
विष्णु स्वामि वोहित्य सिन्धु संसार पार करु,
मध्वाचारज मेघ भक्ति सर ऊसर भरिया,
निम्बादित्य आदित्य कुहर अज्ञान जुहरिया,
जनम करम भागवत धरक सम्प्रदाय थापो अघट,
चौबीस प्रथम हरि वपु धरे त्यों चतुर्व्यूह कलियुग प्रगट

(भक्तमाल छप्पय)

आचार्य रामानन्द, आचार्य विष्णुस्वामी, आचार्य मध्वाचार्य तथा आचार्य निम्बकाचार्य इत्यादि चतुः सम्प्रदायाचार्य हैं। इन्हीं महानुभावों ने भक्ति-भागीरथी का भारत में सुदृढ़ प्रचार किया है। ये सभी आचार्य भगवद्विग्रह थे और सभी भागवद्धर्म (वैष्णव धर्म) के संस्थापक थे। इनमें से आचार्य रामानन्द भगवान् ने परात्पर ब्रह्म के स्थान में मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम को लिया है तथा शेष तीन आचार्यों ने परात्पर ब्रह्म के स्थान में भगवान् श्री-कृष्ण को लिया है। इस प्रकार आज हम लोक में श्रीराम और श्री-कृष्ण की उपासना का इन्हीं आचार्यों की महान् कृपा से प्रवाह देखते हैं।

इन चारों सम्प्रदायों का पिछले युगों में सुदृढ़ संगठन हुआ है और भक्ति के क्षेत्र में सब ने एक होकर प्रचार किया है। ये सम्प्रदाय सभी विरक्त सन्तों के सम्प्रदाय हैं। इन्होंने वैष्णव धर्म के पवित्र संस्कारों को एक रूप में ही स्वीकार किया है और परस्पर में किसी प्रकार का भी भेद नही माना है। इन सम्प्रदायों के सभी वैष्णव सन्त जीवन और मरण में एक ही साथ रहते हैं, एक ही स्थान में बैठकर भोजन करते हैं और राम और कृष्ण को एक ही उपास्य देव के रूप से मानकर उनकी भक्ति करते हैं।

चार सम्प्रदाय के सन्तों के भीतर माध्व सम्प्रदाय के नाम से माध्व-गोड़ेश्वर सम्प्रदाय के सन्त हैं और ये ही चार सम्प्रदाय के संगठन में हैं।

भक्ति के प्रचार में वैष्णव धर्म को मानने वाले और भी सम्प्रदाय हैं। यद्यपि वे चार सम्प्रदाय के संगठन में नहीं हैं परन्तु व्यवहार विचारों से चार सम्प्रदाय के साथ हैं। विशेष करके ऐसे सम्प्रदायों में वे ही सम्प्रदाय हैं जो राम या कृष्ण की उपासना करते हैं और कण्ठ में वैष्णव धर्म के उत्तम संस्काररूप तुलसी की कण्ठी को निरन्तर धारण करते हैं। जो लोग राम की उपासना नहीं करते है और गले में भी निरन्तर तुलसी धारण नहीं करते हैं वे चार सम्प्रदाय सन्तों के साथ एक जगह नहीं बैठते।

चार सम्प्रदाय के सन्तों के एक जगह दर्शन कुम्भ के बड़े-बड़े पर्वो पर होते हैं। हरिद्वार, प्रयाग, नासिक और उज्जैन के अन्दर ये कुम्भ मेला हर तीसरे वर्ष हुआ करते हैं और तब देश-देश के सभी सन्त आकर वहाँ जमा होते हैं। इन सभी सन्तों का दल एक जगह ही पड़ता है और उस दल को रामादल कहते हैं। जिन स्थानों में कुम्भ मेला होता है और उनमें जहाँ सन्तों के दल पड़ते हैं उनके सभी रहने के प्रबन्ध प्रान्तीय सरकार करती है। रोशनी, सफाई, पानी तथा औषधि का प्रबन्ध आदि सरकार के तरफ से होते हैं। शेष सन्त सेवा के प्रबन्ध धार्मिक जनता की ओर से होते हैं। हर कुम्भ मेले में एक मास तक प्रायः सन्त कल्पवास करते हैं। रामादल की बहुत बड़ी संख्या होती है अतः उसके सन्त खालसों के अन्दर विभाजित रहते हैं। रामादल में कई खालसा हैं और सबके प्रबन्ध अलग-अलग होते हैं। हर खालसा का एक श्रीमहन्त होता है जो तमाम अपने खालसा का भार सम्भालता है। उन खालसों के अन्दर एक चार सम्प्रदाय का खालसा भी है जिसके अन्दर सभी सम्प्रदायों के संगठित संत पड़ते हैं। उसके चार महन्त होते हैं और

उनके बीच में एक श्रीमहन्त होता है। श्रीमहन्त रामानन्द सम्प्रदाय का होता है। और शेष तीन महन्त तीन सम्प्रदायों के होते हैं। ये तीन महन्त श्रीमहन्त के सहायक महन्त होते हैं और बड़े प्रेम से आपस में आत्मीय भाव से रहते हैं। चार सम्प्रदाय खालसा को छोड़कर शेष पाँच या छै खालसों के और नाम हैं। इन सभी खालसों के अलग-अलग एक-एक श्रीमहन्त हैं और वे सभी रामानन्द सम्प्रदाय के हैं।

खालसों के अतिरिक्त रामादल के अन्दर अनी अखाड़ों के भी नाम हैं। अनी अखाड़ों का मतलब फौजी सन्तों से है। पिछले काल में रामादल की रक्षा के लिये उसके भीतर एक फौजी बेड़ा भी रहता था जिसके अन्दर सभी सैनिक सन्त ही होते थे और वे समय-समय पर युद्ध भी करते थे। इसका एक लम्बा इतिहास है जो देश के इतिहास का महत्वपूर्ण अंग है। यह फौजी बेड़ा तीन अनी और सात अखाड़ों के ब्यूह का है। इनके भीतर तीन श्रीमहंत होते हैं जो अनियों के महन्त कहलाते हैं। वे अनी 'निर्मोही', 'निर्वाणी' और 'दिगम्बर'—इन तीन नामों से रामादल में प्रख्यात हैं। इनके श्रीमहन्त फौजी सेनापतियों के रूप में होते हैं। पिछले युगों में ये ही श्रीमहन्त रामादल के फौजों का संचालन करते थे परन्तु अब उनके वे काम नहीं रहे हैं। अब इनका काम केवल रामादल ही का कुम्भ मेलाओं में साधारण संभाल करना रह गया है। कुम्भ मेलाओं में पर्वों के पवित्र स्नान इन्हीं तीन अनियों के प्रबन्ध में अभी ही होते हैं। शाही प्रबन्ध में सरकार की ओर से स्नान की व्यवस्था इन्हीं तीन अनियों के लिए होती है, ऐसा प्राचीन नियम चला आ रहा है।

भगवान बुद्ध के विचारों से रामानन्दी वैष्णवधर्म का मेल

भगवान् बुद्ध का पवित्र विचार वैष्णव धर्म के पवित्र विचारों से बहुधा अंश में मिला सा चला है। भगवान् बुद्ध को भी पिछले भारतीय विद्वानों ने ईश्वर का अवतार कहा है अतः हम इस इतिहास में वैष्णव धर्म के आचार्य रामानन्द की समता के लिये भगवान् बुद्ध के धार्मिक विचारों को भी लिखना आवश्यक समझते हैं।

भगवान बुद्ध और उनका उपदेश

बुद्ध भगवान् की महानता से संपूर्ण भू लोक परिचित हैं। इस महापुरुष ने प्राणी मात्र की पीड़ा का अनुभव किया और उसे हटाने के लिए अपने दुर्लभ सभी राज भोगों को तृण के समान छोड़ दिया। एशिया खण्ड का सबसे बड़ा महात्मा बुद्ध अनेक शताब्दियों के बाद भी आज मानव जाति के वन्दनीय स्थान में विराजमान है। भारत की पवित्र भूमि ने उसे उत्पन्न करके अपना महान् गौरव बढ़ा लिया है। युगों के लम्बे परिवर्तनों ने उन्हें अनेक विचार धाराओं में धार्मिक अथवा दार्शनिक रूपों के साथ खींच कर जटिल बना दिया है परन्तु वे सर्वसाधारण के समझने योग्य सरल और सच्चे महापुरुष थे। उनके पवित्र उपदेश वे ही थे जिन्हें समय-समय पर प्राचीन ऋषियों ने संसार की भलाई के लिए स्वीकार किया था। उनके त्रिपिटक के भीतर अनेक ग्रन्थों में हम देख सकते हैं कि भगवान् बुद्ध क्या थे और उन्होंने क्या कहा है उनके जीवन का इतिहास कहता है कि बुद्ध महान् तपस्वी थे, महान् योगी थे और महान् संयमी थे। उन्होंने तपश्चार्याओं के द्वारा ही अपने वास्तविक स्वरूप को समझा था, केवल बुद्धिवाद से नहीं। उन्होंने अपने शिष्यों को भी तपस्वी और संयमीं बनने का आदेश

दिया था। जेतवन के पाँच हजार भिक्षुओं में बैठकर उन्हें संयमी बनाने के लिये भगवान् बुद्ध ने इस प्रकार उपदेश दिया था :—

तुम्हेहि किच्चं आतप्पं अक्खातारो तथागता।
पटिपन्ना पमोक्खन्ति झायिनो मार बन्धना॥

(धम्मपद, २०, ४)

भिक्षुओं! मेरे उपदेश को आचरणों में लाना तुम्हारा काम है मैंने उपदेश कर दिया इससे कुछ नहीं बनेगा। जो लोग संयमों के द्वारा दुख दूर करने वाले मार्ग में खड़े हो जाते हैं वे ही जन्म-मरण के दुखों से छूट जाते हैं (काम के बन्धनों को काट लेते हैं) तुम इन उपदेशों को आचरणों में लाओ।

क्रोधं जहे विप्पजहेय्य मानं, सञ्ञोजनं सब्ब
मतिक्कमेय्य।
तं नाम-रूपस्मि असञ्जमानं अकिञ्चनं नानु
पतन्ति दुक्खा।

(धम्मपद)

क्रोध को जीते और अभिमान को त्याग दे, और भी सभी विकारों से मुक्त हो जाय, तथा इस नाम रूप वाले जगत के पदार्थों से विरक्त हो जाय इस प्रकार के अकिञ्चन पुरुष को कोई दुख नहीं सताते।

सच्चं भणे न कुज्झेय्य दज्जाप्पस्मिम्पि या चितो।
एतेहि तीहि ठानेहि गच्छे देवान सन्ति के॥

सत्य बोले, क्रोध कभी न करे तथा थोड़ा भी माँगने वाले को दे इस प्रकार आचरण करने वाला पुरुष देवताओं के पास जाता है।

अहिंसका ये मुनयो निच्चं कायेन संवुता।
ते यन्ति अच्चुतं ठानं यत्थगन्त्वा न सोचरे॥

(धम्मपद)

जो लोग कभी किसी प्रकार की हिंसा नहीं करते, सदैव अपने शारीरिक संयमों में लगे रहते हैं (सभी इन्द्रियों के निग्रह में लगे रहते हैं) ऐसे मुनिजन उस अच्युत धाम को जाते हैं जहाँ कभी कोई शोक नहीं होता है। इन पवित्र उपदेशों को श्रीरामायण या गीता के उपदेश हम कह सकते हैं। अथवा इन उपदेशों को हम वेदोपनिषद् का सार भी कह सकते हैं।

बौद्ध सिद्धान्त

भगवान् बुद्ध ने अपने सिद्धांत में तीन बातें कही हैं। सर्वमनित्यम्, सर्वमनात्मम् तथा निर्वाण शांतम्। ये तीन विचार भी नये नहीं हैं तथा पेचीदा भी नहीं हैं। सर्व अनित्यम्—नाम रूपात्मक जगत्—जिसे जीव नित्य और सुखकर मानता है—सभी अनित्य है स्थिर नहीं है अर्थात् परिवर्तन शील है। सर्व अनात्मम्—इस सम्पूर्ण नाम रूपात्मक जगत (शरीर) से आत्मा अलग है, जो लोग इसे ही आत्मा मानते हैं वह भ्रम है (शरीर एवं आत्मा-चार तत्वों से बना शरीर ही आत्मा है इस प्रकार कहने वाले चारवाक् आदि का खण्डन है)।

निर्वाण शान्तम् निर्वाण पद ही शान्ति का स्थान है, उसे पाकर जीव सुखी होता है अहिंसा के प्रकरण में भगवान् बुद्ध ने इसे ही अच्युत धाम बताया है और यह भी कहा है कि वहाँ कोई क्लेश नहीं है। इसी की प्राप्ति मानव जाति की अन्तिम गति है। यह पद बड़ी साधना और तपश्चर्याओं से प्राप्त किया जाता है लोक की समस्त वस्तुओं से मन हटा लेने पर ही निर्वाण के मार्ग में साधक खड़ा हो सकता है। निर्वाण शब्द के अस्तित्व में जीवात्मवाद की सिद्धि स्वाभाविक रूप में ही हो जाती हैं और वह प्रत्येक व्यक्ति के शरीरान्तर भूतनित्य आत्मतत्व से सम्बन्धित होती है। बुद्ध भगवान् के मत से शरीरान्तर भूत आत्मा ही निर्वाण को प्राप्त कर सकता है। शरीर के नाश होने पर वह नाश नहीं होता, वह सुख दुखों का भोक्ता बनकर निर्वाण को भी प्राप्त कर सकता है यह

भी साथ-साथ सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार बुद्ध के सैद्धान्तिक विचार सरल और स्पष्ट हैं। इन विचारों का समर्थन ऋषियों ने पहले ही अपने उपनिषदों में किया है।

बुद्धधर्म में जब विद्वान् कुमारलात तथा नागार्जुन का प्रादुर्भाव हुआ तब से उसमें दार्शनिक विचार धारा प्रबल हो गई। भगवान् बुद्ध के सरल विचारों में शून्यवाद की कल्पना हुई और उसके आचार्य नागार्जुन माने गये। इसका काल विक्रम की तीसरी शताब्दी कहा जाता है; तभी से बुद्धधर्म में क्रमशः दार्शनिक धारा प्रबल होती गई और उसके प्रबल होने से बौद्धों के भीतर से आत्मसंयम शनैः शनैः लोप होता गया। यह एक स्वाभाविक सी बात है कि जब दार्शनिक की बुद्धि सूक्ष्म विचारों की गहराई में उतर जाती है, तब वह हृदय की सरल भावना को छोड़ देती है, और वैसी अवस्था में दार्शनिक किसी भी विचित्र कल्पना का सृजन कर सकता है। दर्शन के गम्भीर विचारों में लोक-मर्यादा का तथा व्यावहारिकता का बहुत कम ध्यान रहता है। लोक का अनिष्ट हो या न हो इस पर दार्शनिक चिन्ता नहीं करते। इसी कारण बहुधा देखा गया है कि दार्शनिक विचार अल्पज्ञ जगत् के लिए घातक हुए हैं। भगवान् श्री कृष्ण ने गीता में अर्जुन को इस बारे में समझाया है कि प्राचीन ज्ञानीजनों ने पूर्ण सिद्धियों को प्राप्त होते हुए भी लोक-मयादा का ध्यान रखा था। उन्होंने जनक जैसे महापुरुषों को हृदयों में ज्ञान छिपाकर साधारण वर्ग के अनुसरण करने के लिये कर्म करते बताया। साधारण वर्ग यदि दार्शनिक विचारों को सुनता है और बड़ों को सत्कर्म करते नहीं देखता तब उसका मर्यादा पतन हो जाता हैं। इस प्रकार लोक के अनिष्ट की संभावना होती है। भगवान् बुद्ध का उपदेश किया हुआ उत्कृष्ठ साधन बौद्धों के दार्शनिक विवादों में चिरतक स्थिर नहीं रह सका। उसके न रहने से बौद्ध धर्म में अनेक धारायें बन कर खड़ी हो गई जिन्हें हीनयान, महायान तथा वज्रयान के नाम से पुकारा गया। आगे तो चलकर बौद्धधर्म ही भारत से सर्वथा लोप हो गया। भारत की

प्रजा में यह विशेषता है कि वह कोरे उन दार्शनिकों को छोड़ देती है जिनमें आत्मसंयम नहीं होता। भारत ने अनादिकाल से हजारों दार्शनिकों को उत्पन्न किया है परन्तु उसके क्षेत्र में उन्हीं का सम्मान हुआ है जिनमें आत्मसंयम और मर्यादा रही है। बौद्धधर्म अब भी भारत से अलग से दूसरे कई मुल्कों में विद्यमान है परन्तु वहाँ वह अब नाममात्र से ही है उनमें बुद्ध भगवान् का वह कड़ा आत्मसंयम अब बहुत कम देखा जाता है। ये सब बातें बौद्ध-धर्म में दार्शनिकता के प्राबल्य से हुई।

बुद्ध की साधना

भगवान् बुद्ध ने चार बातें सत्य रूप में समझो, एक दुःख, दूसरी उनके कारण, तीसरी उनकी निवृत्ति और चौथी निवृत्ति के साधन। ये ही चार बातें उनके कहे हुए आर्य सत्य हैं–(१) दुःखम् (२) समुदयः, (३) निरोधः, (४) निरोधगामिनी प्रतिपद आदि। इन सत्यों में चतुर्थ निरोधगामिनी प्रतिपद ही उनकी उत्कृष्ट साधना का स्वरूप है। इसे अष्टाङ्गिक मार्ग भी कहते हैं और इस-का विवरण इस प्रकार है। अष्टाङ्गिक मार्ग तीन विभागों (प्रज्ञा, शील और समाधि) में बँटा हुआ आठ अंगों वाला कहा गया है और वे महत्त्वपूर्ण अंग निम्नलिखित हैं।

१. सम्यक् दृष्टिः, २. सम्यक् संकल्प, प्रज्ञा में हैं, ३. सम्यक्-वाचा, ४. सम्यक् कर्मान्त, ५. सम्यक् आजीविका, शीलविभाग में हैं और ६. सम्यक व्यायाम, ७. सम्यक् स्मृति ८. सम्यक् समाधी, समाधि विभाग में हैं। इस प्रकार यह आठ अंगों वाला साधन भगवान् बुद्ध के निर्वाण पद की प्राप्ति में मुख्य रूप से स्वीकार हुआ है।

मग्गानट्ठङ्गिको सेट्ठा, सच्चानं चतुरो पदा।
विरागो सेट्ठो धम्मानं, द्विपदानञ्च चक्खुमा॥

(धम्मपद २० –१)

एतेहि तुम्हे पटिपन्ना, दुखस्सन्तं करिस्सथ।
अक्खातो वे मया मग्गो, अञ्ञाय सल्ल सन्थनं॥

(धम्मपद, २०—३)

भगवान् बुद्ध ने स्वयं इस मार्ग की प्रशंसा में अपने शिष्यों को कहा है। यह अष्टाङ्गिक मार्ग सभी मार्गों में श्रेष्ठ है। सत्यों में आर्य सत्य श्रेष्ठ हैं, धर्मों में वैराग्य श्रेष्ठ है। मनुष्यों में ज्ञानी श्रेष्ठ हैं।

भिक्षुओं! मेरे कहे हुए अष्टाङ्गिक मार्ग पर चलकर ही तुम दुखों को नाश कर सकोगे। शल्य समान दुख को मिटाने के लिये ही मैंने इस मार्ग का तुम्हें उपदेश किया है। ये वचन बुद्ध भगवान् ने अपनी साधना के सम्बन्ध में कहे हैं।

भगवान बुद्ध के इस मार्ग को हम वैदिक धर्म से अलग नहीं कह सकते। इसमें जितने साधन के अङ्ग हैं सभी प्राचीन ऋषिओं के कहे हुए हैं भगवान पतञ्जलि का अष्टाङ्गयोग बुद्ध के अष्टाङ्गिक मार्ग से बहुत अंशों में मिला चला है। पातञ्जलियोग में अन्तःकरण की शुद्धि के साथ मनो निग्रह पर अधिक जोर दिया है। केवल दोनों में यह अन्तर है और यह अन्तर नाम का अन्तर है साधना फल में नहीं है मनोनिग्रह से प्राण का निग्रह होता है और प्राण निग्रह से मनोजय स्वाभाविक ही होता है अतः दोनों का लक्ष्य समाधि है वह दोनों में एक है।

भगवान् बुद्ध के पवित्र उपदेशों से भरा हुआ 'धम्मपद' ग्रन्थ गीता और उपनिषदों के विचार से अलग नहीं हैं। भगवान् बुद्ध ने जो बातें कही हैं, वे सब वैदिक धर्म में आ गई हैं अतः बुद्धधर्म भी वैदिक धर्म का एक अंग है। शैव, शाक्त तथा वैष्णव आदि अनेक धर्मों के समान बौद्ध धर्म भी वैदिक धर्म में गिनाया जा सकता है उसे किसी तरह अलग कहना न्यायोचित नहीं है।

बुद्ध का अनीश्वरवाद तथा अनात्मवाद

भगवान् बुद्ध ने पाप, पुण्य, स्वर्ग, नरक, जन्म, मरण तथा निर्वाण को स्वयं ही स्वीकार किया है, ये ही सब बातें ईश्वरवाद या आत्मवाद में आती हैं तब बौद्ध धर्म में अनीश्वरवाद और अनात्मवाद की आवाज क्यों आई। यहाँ ईश्वर तत्व को छोड़ देते हैं परन्तु आत्मतत्व पर तो काफी विचार होता है क्योंकि वही शरीरान्तर भूत जीव संज्ञा में प्रत्यक्ष स्वीकार हुआ है। बौद्ध विद्वानों को तर्क पर व्यवहार रूप में उस आत्मा को पंच स्कन्धों का स्वरूप माना है। पंच स्कन्धों में रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान लिया है, इन्हीं के समुच्चय को आत्मा कहते हैं। परमार्थ में इसे कुछ नहीं माना है यह तो एक विलक्षण सा ही तर्क है। व्यवहार शरीरान्त में समाप्त हो जाता है और उस समय पंच स्कन्ध भी विलीन या विनाश हो जाते हैं तब स्वर्ग, नरक या जन्ममरण किसका ? आत्मा तो शरीर तक ही रही उसके आगे तो कोई वस्तु ही नहीं ठहरी तब बुद्ध की साधना का उपदेश किसके लिये हुआ। बुद्ध ने स्वयं जिस निर्वाण के लिये महान् सुख का धाम बतलाया वह किसके लिये हुआ। ये सब विचार ऐसे हैं जिनके द्वारा बुद्ध के पूर्वा पर विचारों में आप ही विरोध किया जाता है। बुद्ध के अनात्मवाद का यदि वैसा ही अर्थ है जैसा कि बौद्ध विद्वानों ने माना है तब तो बुद्ध ने अपने आप ही अपना खण्डन किया है। यदि वह अर्थ नहीं है तो कौन सा अर्थ है उस पर विचार होना चाहिये।

पूर्ण काश्यप का अक्रियवाद, अजितकेशि कम्बल का भौतिकवाद, प्रक्रुधकात्यायन का अक्रियवाद, मक्खाले गोसाल का दैववाद संजय बेलिष्ट पुत्त का अनिश्चिवाद इत्यादि बुद्ध भगवान् के सामने भारत में फैले हुए थे। ये सब वाद नास्तिक भावनाओं को लेकर खड़े हुए थे इनमें ईश्वर या आत्मा के अस्तित्व का खण्डन था उसी प्रकार कर्मों के पवित्र विचारों का भी विरोध था। अनात्मवाद के सम्बन्ध से बौद्ध धर्म के विचारों में इन सबके विचार

मिल जाते हैं इस हेतु बुद्ध का इन्हीं सबसे मिल जाना चाहिए था परन्तु वैसा नहीं हुआ बुद्ध ने इन सब मतों का भारी विरोध किया है। ऐतिहासिक विचारों के आधार से बौद्धधर्म के उदय में ये सब वाद समाप्त हो गये। वस्तुतः तब तो बुद्ध का अनात्मवाद नास्तिक-वाद नहीं है और उसका वह अर्थ नहीं है जो बौद्ध धर्म ने स्वीकार किया है। यदि वह अर्थ होता तो उपरोक्त वादों का बुद्ध विरोध नहीं करते। ऐसा प्रतीत होता हैं कि बौद्ध धर्म में जब दार्शनिक धारा के साथ शून्यवाद आया तब उसके विद्वानों ने बुद्ध के अनात्म वाद का अर्थ अपने शून्यवाद की सिद्धि में कर लिया यथार्थ में वह अर्थ पहले नहीं था। यदि पहले होता तो निर्वाण-जिसे बुद्ध जीवन का सबसे बड़ा लक्ष्य बताते हैं व्यर्थ हो जाता।

आत्मा का अर्थ बुद्ध के विचारों के साथ पंचस्कन्धों का समुच्चय जीव नहीं है हम सोचते हैं कि उनके विचारों में उनके युगों के अन्दर 'दैववाद' या 'यक्षृतवाद' के समान कोई आत्मवाद भी होगा जिसका उन्होंने खण्डन किया। सम्भवतः वह आत्मवाद शंकर के ब्रह्मवाद के समकक्ष ही होगा जिसमें सत्कर्म की पवित्रायें समाप्त हो जाती है। शंकर के ब्रह्मवाद का सीधा प्रभाव मनुष्यों के हृदय पर यह पड़ता है कि वह स्वयं ब्रह्म है उसे किसी कर्मो-पासना की आवश्यकता नहीं है। यह भी एक विलक्षणवाद हैं जिसके द्वारा मनुष्य वर्ग मर्यादा से नीचे उतर जाता है। भारत के अन्दर यह मत भी उठा परन्तु इसका खण्डन शंकर के बाद के आचार्यों ने चारों ओर से किया और प्रजा के भीतर से इसे उखाड़ कर फेंक दिया। यद्यपि यह मत अद्वैत दर्शन के रूप में नाममात्र से अब भी पड़ा है पर प्रजा पर इसका कोई प्रभाव नहीं है। भारत की सारी हिन्दू प्रजा उपासना में बँधी है चाहे वह उपासना शिव की है अथवा राम की या इतर किसी देवता की है, बुद्ध ने अनात्म-वाद की जो आवाज उठाई वह उसी आत्मवाद के विरोध में होगी, जीव तत्व के विरोध में नहीं होगी जो जन्म, मरण और निर्वाण को

सिद्ध करता है। ऐसा अर्थ कर लेने से बुद्ध के साधन, सदाचार और निर्वाण का संरक्षण हो जाता है।

ईश्वरवाद का खण्डन बुद्ध के द्वारा सिद्ध हुआ है उसके संबंध में यह हो सकता है कि बुद्ध का ध्येय बिना ईश्वर के स्वीकार किये हुए भी सफल होता है। शुद्ध विचारों और सत्कर्मों के द्वारा ही बुद्ध अन्तःकरण की शुद्धि मानते हैं और उसके द्वारा निर्वाण की प्राप्ति स्वाभाविक ही हो जाती है ऐसा बुद्ध कहते हैं। उनके इन विचारों में ईश्वर का कोई उपयोग ही नहीं है इस कारण उन्होंने ईश्वर को छोड़ दिया। दूसरा एक ईश्वर के छोड़ने का और यह कारण है कि बुद्ध काल में ईश्वर के नाम पर बड़े-बड़े बलि होते थे जिनमें प्राणधारियों का रक्त ईश्वर के निमित्त बहाया जाता था। उस निर्मम असहाय जीवों की हिंसा ने बुद्ध के हृदय को पिघला दिया था, इसी कारण अहिंसा की आवाज को लेकर बुद्ध उठे और उन्होंने ईश्वर का ही खण्डन किया। उनका भाव था कि जब ईश्वर कोई वस्तु ही नहीं है तब उसके नाम पर जीव हिंसा करना भारी अपराध है। ईश्वर के नाम पर होने वाली हिंसाओं को बचाने के लिये बुद्ध भगवान् ने ईश्वरवाद का खण्डन किया यही विचार विमर्श से स्पष्ट होता है।

भगवान् बुद्ध के बारे में बहुत कुछ कहा जा सकता है और लोगों ने बहुत कुछ कहा भी है। सबके अलग-अलग विचार है, पर हम अपने विचारों में बुद्ध को सनातन धर्म या वैदिक धर्म से अलग कहना भूल समझते हैं।

'बुद्ध और रामानन्द'

इतिहास के आधार पर यदि बुद्ध भगवान का और आचार्य-पाद रामानन्द भगवान् का अध्ययन किया जाय तो बहुत अंश में हम दोनों महापुरुषों को समान पायेंगे। विश्वकल्याण के लिये दोनों विभूतियों ने अपने युगों के अनुसार अकथ प्रयास किया है। मानव-जाति की पीड़ा हटाने के लिये जिस तरह बुद्ध खड़े हुए हैं उसी

तरह रामानन्द भी खड़े हुए हैं। अहिंसा का स्थान बुद्ध के यहाँ भी प्रधान रूप से है और रामानन्द के यहाँ भी प्रधान रूप से है। अन्तःकरण की साधना में अथवा वाह्यसाधना में पवित्रता के लिये सत्य, सदाचार तथा शुद्ध जीविका को दोनों ने ही उत्तम रीति से स्वीकार किया है। योग द्वारा आत्मसाक्षात्कार करना रामानन्द के यहाँ विशेष रूप से देखा जाता है उस प्रकार बुद्ध के यहाँ भी अष्टाङ्गिक मार्ग के रूप में योग साधना विशेष स्थान में मिलती है। रामानन्द सम्प्रदाय का भी एक विरक्त सन्तों का दल चला है और बुद्ध का भी एक विरक्त भिक्षुओं का दल चला है। रामानन्द के विरक्त दल में सभी वर्ग के व्यक्तियों ने प्रवेश किया है और बुद्ध के दल में भी सभी वर्ग के व्यक्ति प्रविष्ट हुए हैं। ये सब व्यापक विचार बुद्ध और रामानन्द के एक ही हैं अब अन्तर जिन विचारों में है उन्हें कहते हैं।

भगवान् बुद्ध ने वैदिकधर्म को नाम से छोड़कर बुद्धधर्म को स्थापित किया है, आचार्य भगवान् रामानन्द ने वैदिकधर्म को नाम से नहीं छोड़कर उसी के अन्तर्गत वैष्णवधर्म को स्वीकार किया है परन्तु उनका वैष्णवधर्म दूसरे वैष्णवाचार्यों के वैष्णवधर्म के समान संकुचित नहीं है। वह बुद्धधर्म के समान ही व्यापक है उसमें सभी वर्ग के प्राणियों का समावेश है। बुद्ध को अपना धर्म प्रचार करने में सरलता प्राप्त थी क्योंकि वहाँ स्वतन्त्र भारत में केवल धार्मिक विद्रोहों को ही सुलझाना था। रामानन्द को अपने धर्म प्रचार में भारी कठिनाई थी क्योंकि वहाँ धार्मिक विद्रोहों के साथ अत्याचारी मुस्लिम शासक को भी दबाना था। बुद्ध ने सत्य, अहिंसा तथा प्राचीन धारा की अध्यात्म साधना को मुख्य रूप से ग्रहण किया परन्तु उससे महत्वपूर्ण सम्बन्ध रखने वाले ईश्वर को छोड़ दिया।

रामानन्द ने सत्य अहिंसा आदि सभी प्राचीन धारा के अंगों को अध्यात्म साधना में अपनाया परन्तु उन्होंने वहाँ ईश्वर उपासना को प्रधान स्थान दिया। बुद्ध के अनीश्वरवाद के कारण उनका प्रचार भारत की प्रजा के भीतर उनके सामने ही सर्वथा नहीं हो पाया। बुद्ध के बाद उनके अनुयायियों ने जब उन्हें मन्दिरों में पूज्यस्थान देकर प्रतिमाओं के रूप में स्थापित किया और उनसे सभी कामनाओं की प्राप्ति का रूप खड़ा किया, तब ही थोड़ा-सा प्रजा का झुकाव उनके तरफ हुआ। यह पूरी-पूरी ईश्वर उपासना की नकल आगे बौद्धों में हुई। रामानन्द का प्रचार भारत में उनके सामने ही प्रजा के भीतर व्यापक रूप से हुआ और उसे प्रजा ने हृदय से अपनाया क्योंकि उसमें ईश्वरवाद था और वह ईश्वरवाद राम के महान् आदर्श को लेकर स्थापित किया गया था। भारतीय प्रजा के अन्दर जितना अधिक प्रचार रामानन्द का हुआ उतना बुद्ध का नहीं हुआ। भारत के बाहर बुद्ध के बाद बुद्ध का धर्म पहुँचा और वह अब तक तिब्बत, जापान, चीन आदि देशों में फैला हुआ है। इसका श्रेय बुद्ध के प्रतापी अनुयायियों को है। रामानान्द के बाद रामानन्द का कोई अनुयायी भारत से बाहर नहीं गया इस कारण उनका धर्म प्रचार बाहरी देशों में नहीं हुआ। बुद्ध ने युग की भाषा पाली को अपनाया और उसी में अपना धर्मोपदेश किया। रामानन्द ने भी युग की भाषा हिन्दी को जन्म दिया और उसी में अपना धर्म प्रचार किया। दोनों ही महापुरुष अपने-अपने युग के महान् थे। दोनों से ही भारत का गौरव बढ़ा है और दोनों ही इतिहास में अमर हैं।

———

स्वामी शंकराचार्यजी और अद्वैतवाद

भगवान् शंकराचार्यजी ने अद्वैतमत की स्थापना की है। उनके मत में ब्रह्मसत्ता को सत्य तथा जगत् को मिथ्या मानते हैं। उनका ब्रह्म निर्गुण, निर्विशेष तथा सर्वव्यापक कहा गया है। जीवतत्व को ब्रह्मतत्त्व से पृथक् ये नहीं मानते। उन्होंने उसका स्वरूप व्यापक माना है अर्थात् उसे ब्रह्म ही माना है। कर्तृत्व, भोक्तृत्व धर्म जीव में मायोपाधि से है। जिस प्रकार घटाकाश मठाकाश से भिन्न नहीं है केवल घट के आवरण से वह भिन्न प्रतीत होता है और प्रत्येक घट-घट से भिन्न प्रतीत होता है ठीक इसी प्रकार जीवतत्व और ब्रह्मतत्व को जानना चाहिए। प्रकृति को अनिर्वचनीय, त्रिगुणात्मिका, अनादि तथा ज्ञानविरोधी कहा है। उसका स्वरूप मिथ्या है। जगत् भी मायामय है इसलिए उसे भी शंकराचार्य मिथ्या कहते हैं। सर्प में रज्जु को जैसे पहले देखा जाता है पश्चात् वह स्थिर विचार में बाधित हो जाता है उस प्रथम ज्ञान को मिथ्या कहते हैं। शंकर के मत को विवर्त मत भी कहते हैं। रज्जु में सर्प की भाँति ब्रह्म में जीव तथा जगत् का भ्रमरूप होना विवर्त होता है। जगत् ब्रह्मका विवर्त हुआ रूप है परिणाम नहीं है। दुग्ध का विचार दधि सत्य है भ्रमात्मक नहीं है। इसी कारण ब्रह्म का विकार जगत् भी सत्य हो जाता है मिथ्या नहीं होता। इस भय से शंकर परिणामवाद को नहीं मानते।

जगत् की उत्पत्ति ईश्वर से है वह मायाविशिष्ट है इसलिए शंकर के मत में वह भी मिथ्या है। व्यावहारिक दृष्टि में ईश्वर, जीव तथा जगत् है, पारमार्थिक दृष्टि में सब मिथ्या है। यह शंकर भगवान् का कहना है। इन्हीं विचारों को लेकर शंकर ने अपने भाष्यों की रचना की है। जीव ब्रह्मैक्यता तथा सत्य ब्रह्म

जगन्मिथ्यावाद को लेकर शंकराचार्य लोक में खड़े हुए हैं और अपना प्रचार किये हैं।

शंकर के इस सिद्धान्त को हम विलक्षण ही मानते हैं। उन्होंने जीवतत्व को तर्क से उड़ा दिया, माया तथा जगत् को मिथ्या बना दिया, ईश्वर तत्त्व भी उनके विवाद में उड़ गया क्योंकि वह भी मिथ्या है। तब तो जगत्-सम्बन्धी तथा जीव-सम्बन्धी सदसद् कृतियाँ भी निरर्थक हो गईं। मानव-जाति की पवित्र मर्यादाओं की दीवालें जो सत्य और धर्म तथा सदाचारों के ऊपर खड़ी की गई हैं इस विवाद के सामने ढह जाती हैं। जगत् का शासनकर्ता उनके विचार में कोई नहीं है क्योंकि उनका ब्रह्म निर्विकार है उससे जगत् से कोई मतलब नहीं है। इस भावना से लोक उच्छृङ्खल बन सकता है। जीवन में विभुत्व स्वीकार करने से—'तेन प्रद्योतेनैव-आत्मानिष्क्रामति' (वृ. ६-४-२) "ये वै केचास्माल्लोकात्प्रयन्ति" 'चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति' (कौषी. १-२) 'तमाल्लकोत्पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे' (वृ. ६-४-२) ये सब श्रुतियाँ निरर्थक हो जाती हैं। इनमें जीवों को शरीर छोड़कर निकलना और दूसरे लोकों में जाना तथा उन लोकों से कर्माधीन होकर फिर आना लिखा है। यह गमनागमन क्रिया जीवात्मा को विभु मानने से कैसे बन सकती है। प्राचीन ऋषियों ने जीवों को सत्कर्म करने की आज्ञा दी है। उन्होंने सत्कर्म छोड़ना बड़ा भारी पाप बताया है। वे लोग स्वयं भी तपोवन में रहकर तपश्चर्याएँ करते थे। ब्रह्मवाद की चर्चाएँ केवल परमात्मा के अस्तित्व के लिए ही होती थीं। उससे कर्मोपासना पर कोई उल्टा प्रभाव नहीं पड़ता था। वह ब्रह्मवाद कर्मोपासना को लेकर चलता था। आज के ब्रह्मवाद से उस ब्रह्मवाद में बहुत अन्तर था। आज का ब्रह्मवाद मिथ्या ब्रह्मवादित्व का अभिमान पैदा करता है और उस अभिमान में कर्मोपासना का ह्रास होता है। जब सत्कर्म और पवित्र

उपासना-धर्म जीवों के भीतर से दूर हो जाते हैं तब लोक में उच्छृङ्खलता फैल जाती है और सृष्टि क्रमशः पतन की ओर जाने लगती है। प्राचीन ऋषि लोग इस बात का बड़ा ध्यान रखते थे कि आचरणों का प्रभाव प्रजा के ऊपर उल्टा न पड़े।

शंकर का दार्शनिक ब्रह्मवाद अलौकिक है। उनका ब्रह्म निर्गुण और कार्य-कारण से परे है। जगत् मिथ्या है, जीव मिथ्या है और मायोपहत ईश्वर भी मिथ्या है। व्यवहार दृष्टि में इनका विचार होता है परमार्थ दृष्टि में कुछ नहीं होता, ऐसा शंकर कहते हैं। इस कथन पर बौद्धों के शून्यवाद की छाया सी पड़ी है। यह विवाद जटिल और दुर्बोध सा बन गया है। इससे भारतीय जगत् का कुछ भी हित नहीं हो सकता। शंकर की जीव ब्रह्मैक्यता से कर्म और उपासना साफ़ उड़ जाते हैं, अतः भारत की भक्ति प्रधान भूमि में यह विचार उपयोगी सिद्ध नहीं हुआ।

इसके अतिरिक्त भगवान् शंकराचार्यजी के लोक में और भी ऐसे विचार पड़े हैं जिनके देखने से उन्हें पुनः समझने की जिज्ञासा बढ़ जाती है। उन्हें भक्ति के क्षेत्र में खड़ा हुआ भी देखते हैं और उस रूप से खड़ा हुआ देखते हैं जैसे कोई आकाश से हरे भरे उपवन पर ज्वालाएँ फेंककर उसे मुरझा दिया हो और पुनः स्वयं करुणार्द्र होकर उस पर अमृत की वर्षा कर रहा हो। शंकर ने ब्रह्मवाद की सिद्धि में जिस तार्किक युक्ति से कर्म और उपासना की मूल को आघात पहुँचाया उसका अनुभव उन्होंने स्वयं ही किया। वे उस समय और भी विचलित हो गये जब उनके सूक्ष्म विचारों ने भावुक जनता के सरल हृदय को छुआ। ब्रह्मवादी शंकर बदलकर भक्तिवादी शंकर के रूप में आये और अपने पूर्व विचारों की अवहेलना सी करते हुए भक्ति-रस की धारा को उड़ेलने लगे। 'मोक्ष कारण सामग्रियां भक्तिरेव गरीयसी' मोक्ष के लिए भक्ति ही प्रधान है। 'अरे मूढ़ जीवो! गोविन्द का भजन करो'।

पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननी जठरे शयनम्, इह संसारे खलु दुस्तारे कृपया पारे पाहि मुरारे' । कहते हुए आचार्य शंकर उपासना की हिली हुई जड़ को सम्हाल कर सींचने लगे। उन्होंने सैकड़ों स्तोत्र राम, कृष्ण, शिव, दुर्गा आदि के विभिन्न रूपों पर लिख डाले। भक्त की श्रद्धा शंकर की ओर उस समय और भी बढ़ जाती है। जब वे उनके अच्युताष्टक, रामस्यप्रातःस्मरणम्, चरपटपञ्जरिकास्तोत्रम्, आदि को प्रेम से पाठ करते हैं। शंकर स्वयं ही नरसिंहावतार के रूप के उपासक थे, ऐसा उनका इतिहास कहता है। भक्तों का दल साहस के साथ कह सकता है कि शंकर ने अद्वैतवाद को छोड़ दिया।

शंकर के भक्तिवाद के उदाहरण उनके अद्वैतवाद के प्रबल विरोधी सिद्ध हुए। जो आचार्य अद्वैतवाद की कल्पना पर बड़े-बड़े भाष्य लिख डालता है वही आचार्य अपने ही श्रीमुख से फिर उन्हें द्वैतवाद की भक्ति कल्पना से खण्डन कर डालता है। तर्क-युक्ति में उन विचारों को यद्यपि शंकर ने पूर्व पक्ष नहीं बनाया है परन्तु फिर भी भक्ति पक्ष का विरोधी झण्डा हाथ में ले लेने से पूर्ववाद का पक्ष गिर जाता है।

भगवान् शंकर के बाद उनकी शिष्य परम्परा ने उनके अद्वैतवाद का ही लोक में प्रचार किया और वह प्रचार इतना हुआ कि उससे पुनः प्रजा में अन्धकार फैला दिया। उसे हटाने का वैष्णवाचार्यों ने पूरा प्रयास किया परन्तु वह उस समय नहीं हटा और रामानन्द के युग में आकर हटा। पुस्तकों के पन्नों में ही वह मत है। प्रजा के हृदय में उसका कोई स्थान नहीं है। प्रजा के हृदय में तो आज केवल रामराज्य का ही स्वप्न है।

———

रामानन्दी पद्धति के भेद

रामानन्द सम्प्रदाय की प्राचीन परम्परा में उपदेशों की प्रथा दो प्रकार की चली है। एक गृहस्थ आश्रम के लिये दूसरी विरक्त आश्रम के लिये। गृहस्थ आश्रम में साम्प्रदायिक दीक्षा के साथ गृहस्थ आश्रम के भी धर्म साथ रहते हैं। उसमें हर एक उपासक को उसकी वर्णव्यवस्था के अनुसार अपने कुटुम्ब में ही रहने का आदेश होता है परन्तु उपासना का स्वरूप वहाँ नहीं बदलता। वैष्णवोचित पञ्च संस्कार जिनका विवरण वैष्णवधर्म में हुआ है गृहस्थ आश्रम में भी किये जाते हैं। नाम परिवर्तन संस्कार में कुछ अन्तर रहता है, कहीं वह बदला जाता है, कहीं नहीं बदला जाता। वहाँ पर मुख्यरूप से पैतृक सम्पत्ति के साथ वंश परम्परा चलती है। जो व्यक्ति जिस वर्ण का होता है उसे उससे अलग नहीं किया जाता, केवल उसी वर्ण में रहकर वह रामानन्दी वैष्णवधर्म के नियम विशेष रूप से पालन करता है। यह प्रथा रामानन्द सम्प्रदाय ने गृहस्थों के लिये बनाई है।

विरक्त आश्रम का अर्थ सन्यास आश्रम है, रामानन्द सम्प्रदाय में इस आश्रम की दीक्षा होने पर गृहस्थ आश्रम से सर्वथा अलग होना पड़ता है। जो व्यक्ति विरक्त आश्रम धर्म के अनुसार वैराग्य धारण करता है उस समय रामानन्द सम्प्रदाय में उसे प्राचीन प्रथा के अनुसार 'विरागी' कहते हैं। विरागी सन्त लोक में बहुत प्रसिद्ध है और उन्हें लोग बिना कहे रामानन्दी वैष्णव सन्तों में गिन लेते हैं। रामानन्दी सन्तों का सम्बन्ध रामानन्दी मठों मे रहता है और वहाँ गुरू शिष्यों की परम्परा चलती हैं। हर मठ का उत्तराधिकारी उस मठ के अध्यक्ष का प्रधान शिष्य ही होता। यदि प्रधान शिष्य योग्य न हो तो दूसरे शिष्यों में कोई भी शिष्य उत्तराधिकारी बन सकता है। मठ के अध्यक्ष को महन्त कहते हैं, उस महन्त को विरागी धर्म की मर्यादा के अनुसार मठ

का भार उठाना पड़ता है। यदि वह विरागी मर्यादा धर्म का उल्लंघन करता है तो उसे मठ के अन्य सदस्यगण तथा विरागियों का निर्धारित मण्डल मिलकर मठ के अध्यक्ष पद से अलग कर देते हैं। विरागी बनकर जो पुनः गृहस्थ बनता है वह पतित हो जाता है उसे मठ के अन्दर अध्यक्ष पद पर चाहे सन्त पद पर नहीं रहने दिया जाता है। वह किसी तरह भी मठ के अन्दर रहने का अधिकारी नहीं रहता। विरागी महन्त के नाम के आगे आनन्द, दास, शरण आदि शब्द जोड़े जाते हैं। पिछले इतिहास में रामानन्द संप्रदाय के आचार्यों के नाम आनन्दान्त अधिक रूप में होते थे। आचार्यपाद रामानन्द स्वामीजी से पहले तथा पीछे बहुत काल तक यह प्रथा बनी रही आगे चलकर दासान्त की प्रथा प्रबल हो गई और नाम के आगे दास शब्द जोड़ा जाने लगा। विरागी सन्तों में गृहस्थों के समान वर्णव्यवस्था का विधान नहीं है। वहाँ सभी वर्ग के संत तुलसी के छोटे बड़े पत्ते की एकता के समान एक माने जाते हैं। सभी का अच्युत गोत्र हो जाता है और सभी तुलसी की कण्ठी के नाते से भाई बन जाते हैं। मृत्यु संस्कार प्रत्येक विरागी सन्त के विरागियों के हाथ से होते हैं। कोई भी विरागी सन्त किसी भी विरागी सन्त की अन्त्येष्टिक्रिया किसी भी जगह कर सकता है चाहे वह उसकी गुरु परम्परा में हो या न हो। कोई भी विरागी सन्त किसी भी मठ की परम्परा का उत्तराधिकारी न होने पर भी उस मठ का अध्यक्ष होकर सम्हाल कर सकता है केवल वहाँ राममन्त्र की परम्परा प्रधान रहती है। विरागी सन्तों की प्रथा में दाह संस्कार तथा प्रवाह संस्कार दोनों होते हैं। उनके यहाँ 'शव' को जमीन के अन्दर नहीं गाड़ते। मृत्यु के बाद विरक्त पद्धति के अनुसार भण्डारा होता है गृहस्थों के समान दशगात्र या श्राद्ध निषेध है। कहीं-कहीं साम्प्रदायिक ज्ञान न होने से विरागी लोग श्राद्धादि कर्म भी कर लेते हैं।

रामानन्द सम्प्रदाय में स्त्रियाँ भी वैराग्य धारण करके विरक्त

आश्रम में प्रवेश करती हैं। बड़ी-बड़ी भजनानन्दी तपस्विनी मातायें इस सम्प्रदाय में हुई हैं। उन्होंने देश कल्याण में अच्छी प्रकार भाग लिया हैं। रामानन्द सम्प्रदाय की विरक्त तपस्विनी मातायें हर एक प्रान्त में और हर एक युग में बराबर होती आई हैं। इनकी गिनती भी विरागी सन्तों में होती है। 'भक्तमाल' में आचार्यपाद रामानन्द भगवान् की प्रधान शिष्याओं के नाम आये हैं। माता पद्मावती तथा माता सुरसुरी देवी का नाम नाभाजी ने द्वादश महाभागवतों में लिखा है। माता सीता जो पीपाजी महाराज की छोटी रानी थीं—उन्होंने भी पीपाजी के साथ ही वैराग्य धारण किया है। आचार्यपाद ने उन्हें भी विरक्त आश्रम की दीक्षा दी। रामानन्द सम्प्रदाय की ये परम पूजनीया मातायें भक्ति के क्षेत्र में आचार्य रामानन्द के आदेश को लेकर खड़ी हुई थी। भगवती मीरा पर भी इन विश्ववन्दनीया माताओं के इतिहास का प्रभाव पड़ा था और इसी कारण उन्होंने पूज्य रैदासजी की शिष्या होकर रामानन्दी प्रथा के अनुसार सन्तदर्बार में प्रवेश किया था। रामानन्द सम्प्रदाय की पद्धति में पुरुषों के समान मोक्ष साधना के लिये स्त्रियों को भी वैराग्य धारण का विधान बनाया है।

कबीर, रैदास और पीपाजी आदि सब विरक्त थे

कबीरजी तथा रैदासजी आदि के सम्बन्ध में कुछ ऐसी बातें सुनने में आती हैं कि ये सब अपने-अपने घर के परिवार में ही रहते थे, विरक्त सन्त नहीं थे। ये सब विचार मिथ्या हैं क्योंकि इन्हें विरक्त महात्माओं की पद्धति का उपदेश मिला है इसलिये ये विरक्त ही थे। रामानन्द सम्प्रदाय के सन्त विरक्त ही होते हैं। नाभाजी ने अपने भक्तमाल में कबीर, रैदास, धना, सेना तथा पीपाजी आदि को द्वादश महाभागवतों के अन्दर लिखा है। इसका विवरण हम पहले दे चुके हैं। आचार्य रामानन्दजी के ये द्वादश महाभागवत हजारों विरक्त प्रतापी शिष्यों में से प्रधान शिष्य थे।

कुछ इन प्रधान शिष्यों में से पत्नियों के सहित ही विरक्त शिष्य हुए थे। सुरसुरानन्दजी, पीपाजी तथा भावानन्दजी (विठ्ठलपंथ) आदि के नाम प्रसिद्ध है। सुरसुरानन्दजी तथा पीपाजीं की पत्नियाँ भी वैष्णव सन्यास (वैराग्य) धारण कर चुकी थीं। भावानन्दजी (विट्ठलपंथ) की पत्नी को आचार्यपाद रामानन्द भगवान् ने पुत्र-वती का आशीर्वाद दिया था इस कारण श्री विट्ठल पंथजी को पीछे गृहस्थ आश्रम में लौटाया गया। उनकी पत्नी रुक्मणीबाई विरक्त नहीं हुई थी। लोक प्रसिद्ध ज्ञानेश्वरजी आदि चार सन्तानें आचार्य रामानन्द की कृपा से आशीर्वाद रूप में उत्पन्न हुई थी। इनका इतिहास प्रसिद्ध है इसलिए यहाँ हमने सँकेत भर ही किया विट्ठल पंथजी को विरक्त आश्रम से गृहस्थ आश्रम में लौटाना पड़ा उन्हें बड़े ही क्लेश उठाने पड़े। विरक्त से गृहस्थ होने पर समाज के लोगों ने उनसे बहुत ही घृणा की। उनकी दृष्टि में वे पतित हो गये थे क्योंकि उस समय ऐसी ही सामाजिक प्रथा थी।

पीपाजी महाराज गागरौन गढ़ के राजा थे। वे पहले देवी की उपासना करते थे और उससे ही उन्होंने मोक्ष की याचना की थी भगवती ने उन्हें रामानन्द भगवान् की शरण में जाने की प्रेरणा की उसी पर पीपाजी काशी गये और आचार्य रामानन्दजी की शरण में जाकर शिष्य बनने के लिये विनय की। आचार्य ने पहले उन्हे घर लौटाया और पीछे फिर उन्हीं के यहाँ जाकर उन्हें मन्त्र राज का उपदेश दिया। पीपाजी ने वैराग्य धारण किया और गृह से अलग हो गये। उसी समय उनकी छोटी रानी जिसका नाम सीता देवी था आचार्य की विरक्त शिष्या बन गई और वे भी पीपाजी के साथ ही राजभवन से अलग हो गई। उन्होंने सदैव पीपाजी के साथ रहकर विरक्तमर्यादा के अनुसार भजन किया। पीपाजी और उन-की पत्नी दोनों ने ही देश में घूमकर रामभक्ति का प्रचार किया। उनका उपदेश भारत के नरनारियों ने बड़ी श्रद्धा से सुना।

रामोपासना के प्रधान ग्रन्थ

१. श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण—

रामोपासना के प्रचार में बहुत बड़ी साहित्य सामग्री लोक में विद्यमान है। संभवतः रामतत्व का जितना बड़ा प्रचार हुआ है भारत के किसी भी युग के इतिहास में उतना बड़ा प्रचार दूसरे किसी तत्व का नहीं हुआ। प्राचीन काल का ऋषिमण्डल रामतत्व के मनन में ही लगा रहा ऐसा उस समय का साहित्य कहता है! ब्रह्म-विद्या पर जो भी प्राचीन मनीषियों ने खोज की है वह राम-तत्व के भीतर ही हुई है। भगवान् वाल्मीकिजी ब्रह्म-विद्या के महान् गुरु कहे गये हैं, उन्होंने परात्पर ब्रह्मतत्व को राम के रूप में ही खोज लिया और उसी पर एक महान् पवित्र ग्रन्थ लिखा जिसे संसार ने 'श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण' के नाम से पहिचाना। इस ग्रन्थ को लिखकर श्रीवाल्मीकिजी महाराज अमर हो गये। लोक में ऐसी ख्याति है कि वेदमाता गायत्री के एक-एक अक्षर पर ऋषि ने एक-एक हजार श्लोक लिखे और इस प्रकार पूरे मन्त्र पर चौबीस हजार श्लोक लिखे। प्राचीन वैदिक विद्वानों का मत है कि वेदों का मूल गायत्री मन्त्र है और इधर भगवान् ऋषि ने भी गायत्री मंत्र को ही आधार मानकर उसके एक-एक अक्षर पर चौबीस हजार श्लोकों में रामचरित्र लिखा। इस कारण इस महान् ग्रन्थ का मूल भी गायत्री ही मंत्र हुआ। गायत्री का अर्थ ब्रह्मतत्व की ओर खींचता है और उसका वृहद् व्याख्यान वेदों में हुआ है, इसी प्रकार गायत्री मन्त्र के अर्थ का वृहद् व्याख्यान पुनः रामायण में हुआ है, अतः रामायण और वेद एक ही है क्योंकि दोनों का विषय ब्रह्म-निरूपण है। इस विवाद का समर्थन प्राचीन ऋषियों ने ही किया है। भगवान् अगस्त्यजी ने इन विचारों को अपनी रचना में संग्रह किया है—

वेद वेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे ।
वेदः प्राचेतसादा सीत्साक्षाद्रामायरामायणात्मना ।
तस्माद्रामयणं देवि वेद एव न संशयः ।

(अगस्तसंहिता)

वेदों से जानने योग्य जो ब्रह्मतत्व हैं वह जब अवतार होकर राम के रूप में आया। उसी समय वेद भगवान् ने भी प्राचेतस मुनि (वाल्मीकि भगवान्, के श्रीमुख से रामायण रूप में अवतार लिया। अतः रामायण और वेद निसंशय एक ही हैं इस प्रकार भगवान् शिव ने पार्वती से कहा है।

लोक में रामायण का प्रचार वेदों के रूप में हुआ। कोई भी ब्रह्मवेत्ता ऋषि ऐसा नही हुआ जिसने महान् काव्य श्रीमद्वाल्मीकि रामायण का आदर नहीं किया।

रामायण महाकाव्य लोक में बहुत ही प्रिय हुआ। इसने संसार के अन्दर राम के उस पवित्र आदर्श को स्थापित किया जो मानव जाति की मर्यादा बनाने में बड़ा ही उपयोगी हुआ। प्राचीन ऋषियों के दल ने इस काव्य को स्वयं भी अपने जीवन में अपनाया और इसी की ओर झुके। राम कथा सुनने के और कहने के तपोवनों में नियम बन गये। नवाह के रूप में रामायण पर सफल अनुष्ठान हुए जो लोक परलोक दोनों में उपयोगी सिद्ध हुए। 'एकैकमक्षरं पुसां महापातक नाशनम्' एक-एक अक्षर रामायण का महान्-महान् पातकों को नाश करता है ऐसा माहात्म्य में कहा गया।

वाल्मीकि रामायण पर लोक में बहुत सी टीकायें हैं परन्तु उनमें से 'शिरोमणि' टीका विद्वान् शिवसहायजी की लिखी हुई अनुपम कही गई है विद्वान् शिवसहाय रामानन्दसम्प्रदाय के विद्वान् थे और अवध में रहकर अध्ययन किये थे तथा वहीं दीक्षित भी हुए थे। राम के रहस्य को जिस ढङ्ग और विद्वत्ता से उन्होंने रामायण में समझाया है वह उनके प्रखर पाण्डित्य का द्योतक है।

रामायण पर और भी टीकायें हैं परन्तु वे शिरोमणि टीका के सामने फीकी हैं। शिरोमणि टीका रामानन्द सम्प्रदाय के उपासना काण्ड की टीका है।

२. 'मन्त्र रामायणम्'

राम के सम्बन्ध में वेदों में भी बहुत कुछ विवरण है। चतुर्धर वंश आचार्य नीलकण्ठजी महाराज ने ऋग्वेदसंहिता के एक सौ सत्तावन (१५७) मन्त्रों में रामकथा की खोज की है। आचार्य नीलकण्ठ वेदों के कितने बड़े विद्वान थे इसका पार नहीं हैं। उन्होंने 'मन्त्र रामायणम्' नामक ग्रंथ का सृजन किया और उस पर अपना विस्तृत भाष्य लिखा। आचार्य नीलकण्ठजी ने वेदों का मूल गायत्री को मानकर वेदमाता गायत्री के आधार में ही 'मन्त्र रामायण' सिद्ध किया है। उन्होंने भगवान् बाल्मीकिजी का भी वहीं स्मरण किया है और उनके महाकाव्य का सृजन वेदमाता गायत्री के आधार पर ही बताया है वे कहते हैं–"अतएव रामायणे चतुर्विंशति साहस्रयां चतुर्विंशति गायत्र्यक्षराणि भगवद्वाल्मीकिना संग्रहीतानीत्यभियुक्त प्रसिद्धं संगच्छते। तथा रामायणस्य वेदत्वो-क्त्या प्रत्यक्ष वेदमूल तत्वोप पादकम्' ('मन्त्र रामायणम्')। यह रामायण के सम्बन्ध में आचार्य नीलकण्ठजी का कथन है। अतः 'मन्त्र रामायणम्' और श्रीमद्वाल्मोकीय रामायण दोनों ही राम के परात्पर स्वरूप का अवतार स्वरूप में निरूपण करते हैं। 'मन्त्र रामायणम्' रामानन्द सम्प्रदाय का उपासना ग्रन्थ है। इसमें ऋग्वेद की ऋचा से उस मन्त्रराज को निकाल कर सिद्ध किया है। जो श्रीसम्प्रदाय की परम्परा में षडक्षर राममन्त्र के नाम से अविच्छिन्न रूप में चला है। अतः यह ग्रन्थ रामोपासना के साहित्य-समूह में महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ है।

३. श्रीरामचरितमानस

श्रीरामचरितमानस के विषय में हम गुसाईंजी के प्रकरण में

काफी परिचय दे चुके हैं। यह विश्वविख्यात ग्रन्थ रामोपासना का इस युग में मूल ग्रन्थ है। इसे हम रामानन्द संप्रदाय का वेद या वेदान्त भाष्य या पाठ-पठन का महाकाव्य आदि नामों से कह सकते हैं ग्रन्थ केवल रामोपासना के क्षेत्र में ही सम्मानित नहीं हुआ है, यह यह तो सारे विश्व के प्राणियों का उपकार करने वाला सिद्ध हुआ है। रामकथा के साथ श्रीरामचरितमानस में श्रीतुलसी-दासजी के जो पवित्र उपदेश हैं वें मानव-जाति के लिए बड़े ही उपयोगी हैं। इसी महाकाव्य के अन्दर गुसाईजी ने आचार्य रामानन्द के लोक में फैले हुए विचारों को संकलित किया है। राम-भक्ति का विश्व व्यापक रूप—जिसमें सभी वर्ग का समावेश रामानन्द स्वामी ने कराया है—रामचरितमानस में ज्यों का त्यों स्थान पाया है। इसी प्रकार आचार्य रामानन्द के सारे विचार तुलसी ने अपने ग्रन्थ में संग्रहीत किये हैं। इस अनुपम ग्रन्थ से रामोपासक साहित्य के क्षेत्र में सबसे अधिक धनी हैं।

६. भक्तमाल

'भक्तमाल' लोक-प्रसिद्ध ग्रन्थ नाभाजी महाराज का लिखा हुआ है। इस ग्रन्थ ने वैष्णव समाज में इतना आदर प्राप्त किया है कि इसका कोइ वर्णन नहीं हो सकता। यह ग्रन्थ यद्यपि श्री-रामानन्द संप्रदाय के प्रसिद्ध महापुरुष नाभाजी का रचा है परन्तु सभी वैष्णव सम्प्रदायों को यह परमप्रिय हो गया है। खास तौर से चार सम्प्रदाय (रामानन्द, निम्बार्क, विष्णुस्वामी तथा माध्व-गोड़ेश्वर आदि) का तो यह जीवन आधार ही है। इसके अतिरिक्त भारत के हिन्दू जाति के नर-नारी इसकी बड़ी श्रद्धा से कथा सुनते हैं। यदि इसे भक्ति का अनुपम ग्रन्थ कह दिया जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। यह ग्रन्थ व्यापक विचारों से भक्ति भाव के प्रचार के लिये लिखा गया है। इसमें जो कथाएँ लिखी गई हैं वे ऐसे भक्तों की हैं जो प्रभु के बड़े ही प्यारे थे और जिनके लिये प्रभु लोक में प्रत्यक्ष होकर प्रभु सिद्ध हुए। इन मनोहर और

पवित्र कथाओं का प्रभाव प्राणियों के सीधे हृदय पर पड़ता है और उसे भक्ति रस की ओर बलात् मरोड़ देता है। गोस्वामी तुलसीदासजी की रामायण के समान यह ग्रन्थ भी लोकोपकारी सिद्ध हुआ है।

नाभाजी का और गोस्वामीजी का काल लगभग एक ही मिलता है। गोस्वामीजी के समान ही नाभाजी की भी जन्मकथा है। बाल्यावस्था में— दुर्भिक्ष पड़ने के कारण— इन्हें भी इनकी माँ किसी वन में फेंककर चली गई। ये जन्म ही के अंधे थे इसलिये माता को और भी भार बन गये थे। भगवान् की गति कौन जानता है, उस त्यागे हुए अनाथ बालक की रक्षा उस हिंसक जंतुओं के वन में भी होने का योग बना। गलता गद्दी के महान् आचार्य कृष्णदासजी महाराज के शिष्य कील्हजी महाराज तथा अग्रजी महाराज उसी वन के मार्ग से आये। दोनों महापुरुषों की दृष्टि उस अनाथ अबोध बालक पर पड़ी। दया से द्रवित होकर वे उस बालक के पास खड़े हो गये और उसे रुदन करते देख सान्त्वना दिये। सन्तन की महिमा कौन गा सकता है, उस असहाय दीन बालक को वे अपना लिये। तेजपुँज महापुरुषों ने अपने कमण्डल से जल लेकर उस बालक की आँखों पर छिड़का। प्रभु कृपा से जल पड़ते ही उसकी दोनों आँखें खुल गईं और वह देखने लगा। महात्मा उस बालक को लेकर जैपुर गलता गद्दी चले आये वहाँ उसे अग्रदासजी महाराज ने पंच संस्कार करके शिष्य किया। उस बालक का नाम उन्होंने नारायणदासजी रखा। उसे सन्तन की सेवा टहल सौंपी गई जिसे उसने मन लगा कर किया। वह बालक नारायणदास सन्तन की कृपा का तथा प्यार का भाजन बन गया। गुरुदेव की सेवा और सन्तन की सेवा उस बालक का मुख्य कार्य था। इस प्रकार बहुत सा समय व्यतीत हुआ और नारायणदास सुबोध हो गया। सन्तन के आशीर्वाद से उसके हृदय के भी नेत्र खुल गये जिससे उसे अलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त हुईं।

एक समय अग्रजी महाराज ध्यान में प्रभु की मानसिक सेवा कर रहे थे उसी समय उनके किसी भक्त की समुद्र में नौका फँस गई। उस भक्त ने अग्रजी का ध्यान किया और उस दुख से पार होने की याचना की। स्वामी श्रीअग्रदासजी महाराज का ध्यान उससे विचलित हो गया। उस परिस्थिति को नारायणदासजी भी जो सेवा में पंखा झुला रहे थे—जान गये। उन्होंने अपने संकल्प से उस नौका को चक्कर से निकाल दिया और गुरुदेव की सेवा में निवेदन किया कि प्रभो वह नौका आपकी कृपा से दुख से मुक्त हो गई, आप अब उसकी चिन्ता मत करिये ये शब्द अग्रजी के कान में पड़े और और उन्होंने आँखें खोलीं। पूछा कौन बोला? उत्तर मिला आपकी शीत प्रशादी से पाला हुआ आपका दास बोला। सामने पंखा झुलाते देख अपने शिष्य को अग्रजी बड़े प्रसन्न हुए और कहा पुत्र तुमने नाभी की बात जान ली और अब तुम सर्व समर्थ हो गये। तुम्हारी अब इतनी सामर्थ्य हो गई कि तुम अब हरिभक्तों के चरित्र लिख सकते हो, इस कारण अब तुम संसार सागर से पार करने के लिये भक्तन का चरित्र गाओ। आज से तुम्हारा नाम नाभाजी हो गया। अपने महान् गुरुदेव की आज्ञा से नाभाजी ने इस सिद्ध ग्रन्थ को रचा है। इस ग्रन्थ में कोई पक्षपात नहीं है। इसे उन्होंने समस्त संसार के कल्याण के लिए ही रचा है इसी कारण यह सर्वप्रिय हुआ भी है। 'भक्तमाल' धार्मिक ग्रन्थ होते हुए भी ऐतिहासिक ग्रन्थ है। इसमें सभी ऐतिहासिक भक्तों के चरित्र हैं, चाहे वे प्राचीन हों चाहे अर्वाचीन हों। नाभाजी ने सभी सम्प्रदायों में और भारत के सभी प्रान्तों में उत्पन्न होने वाले भक्तों के चरित्र लिये हैं। इन सब भक्तों के चरित्र लिखने में नाभाजी की यही भावना रही है कि इन प्रभु के प्यारे भक्तों के चरित्रों को जो सुनेंगे या पढ़ेंगे उन्हें हृदय में शान्ति मिलेगी और प्रभु भी उन पर कृपा करेंगे। इस पवित्र भावना से रचा हुआ यह ग्रन्थ रामानन्द सम्प्रदाय की अनुपम देन है।

'श्रीवैष्णव मताब्ज भास्कर'

'श्री वैष्णव मताब्ज भास्कर' ग्रन्थ आचार्यपाद रामानन्द स्वामीजी का स्वयं रचा हुआ ग्रंथ है। इस ग्रन्थ में स्वामी रामानन्दजी महाराज के पवित्र उपदेश हैं। रामोपासना का यह सर्वोच्च ग्रन्थ, वैष्णवधर्म के पवित्र नियम और सिद्धान्त को लेकर रचा गया है। सम्प्रदाय के अनुयायियों को कैसे कालक्षेप करना चाहिये ये सब विधान इसमें दिये गये हैं। रामोपासना के साहित्य का यह बहुत ही रहस्यपूर्ण ग्रंथ है।

'आनन्दभाष्यम्'

यह एक ब्रह्मसूत्र भाष्य है। रामानन्द सम्प्रदाय के महानुभाव इसे अपने आचार्य की कीर्ति मानते हैं। यह ग्रन्थ राम परत्व को लेकर रचा गया है। इसमें विशिष्टाद्वैत मत का प्रतिपादन है। रामानन्दसम्प्रदाय में इस ग्रन्थ का बड़ा ही सम्मान है।

किसी-किसी इतिहासकार ने इस ग्रन्थ को स्वामी रामानंदजी महाराज का रचा हुआ नहीं माना है परंतु वहाँ उसने एक दूसरे सम्प्रदाय का गलत पक्ष लेकर वैसा लिखा है। उसका लेख निष्पक्ष नहीं है। उसने जिस सम्प्रदाय की वकालत की है, उसका ही भाष्य उसके आचार्य के नाम पर सन्देहपूर्ण है – परन्तु उसका उसने कुछ भी उल्लेख नहीं किया है। लोगों ने स्वार्थ की भावना से या राग-द्वेष की भावना से बहुत सी पवित्र वस्तुओं को बुरा कहा है। ऐसा ही आनन्दभाष्य के सम्बन्ध में विवाद है। ऐसे कथन का कोई मूल्य नहीं होता है इसी कारण हम वैसे ऐतिहासिक कथन का अधिक उल्लेख नहीं करते। रामानन्द सम्प्रदाय का विशाल दल जब इस ग्रन्थ को प्रामाणिक कहता है तब दूसरे

इसे अप्रामाणिक कहने का क्या अधिकार रखते हैं। किसी के घर की कोई बात क्या जाने। कोई भी धर्म या सम्प्रदाय किसी भी ग्रन्थ के सम्बन्ध में यह सबूत विश्व के सामने नहीं रख सकता कि वह उसके मूल पुरुष की रचना है। वहाँ केवल किसी धर्म या सम्प्रदाय की मान्यता पर ही निर्भर है। वह अपने मूल पुरुष के नाम पर जो कुछ कहे संसार भी उसे वैसा ही मानेगा। आनन्द-भाष्य को रामानन्द सम्प्रदाय अपना आचार्य रचित भाष्य मानता है तब इसका विवाद कोई भी उठाता है वह व्यर्थ है। अतः आनन्द भाष्य रामोपासना का सम्मानित भाष्य है।

श्रीजानकीभाष्यम्

ब्रह्मसूत्र पर रचा हुआ 'जानकी भाष्य' भी रामोपासना का एक ग्रन्थ है। यह भी एक रामानन्द सम्प्रदाय के महापुरुष का रचा हुआ है। इसमें सभी बातें रामानन्द सम्प्रदाय और रामानन्दाचार्यजी के अनुकूल हैं। इसका रचनाकाल एक सौ वर्ष के ऊपर है। सम्प्रदाय के अनुयायी इस ग्रंथ का भी आदर करते हैं।

५. ब्रह्मामृत वर्षिणी

वेदान्त दर्शन के क्षेत्र में यह ग्रन्थ बहुत ही प्रसिद्ध है। ब्रह्मसूत्रों पर आज तक जितने भी भाष्य हुए हैं उन सबसे यह ग्रन्थ अधिक प्रौढ़ है। 'सारस्वती सुषमा' नाम की पत्रिका जो गवर्नमेंट संस्कृत कालेज (वर्तमान संस्कृत विश्वविद्यालय) से निकली थी उसमें लिखा है कि इस ग्रन्थ के नाम के काशी के विद्वानों द्वारा 'ब्रह्मामृत वर्षिणी सभा' स्थापित हुई थी। उस सभा के प्रमुख महामहोपाध्याय पं० श्रीराम मिश्रजी थे और वे दर्शनशास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान थे। संस्कृत कालेज में उनका दर्शनशास्त्र के अन्दर प्रधान स्थान था। उनका कार्यकाल ई० (१८८०-१९०२) है। इस

ग्रन्थ का कितना सम्मान विद्वानों में हुआ है यह उस समय कि 'ब्रह्ममृत वर्षिणी सभा' के विवरण से पता चलता है। यह ग्रन्थ राम का परत्व मानकर लिखा गया है और इसके लेखक कोई आचार्य रामानन्द हैं। यह आचार्य रामानन्द सम्प्रदाय के ही आचार्य हैं या कोई अन्य हैं इसे तो अभी हम जल्दी में नहीं कह सकते हैं किन्तु बहुधा इस ग्रन्थ की रचना क्रम से तथा अन्तिम राम के समर्पित ग्रन्थ की आचार्य प्रतिज्ञा से यही कहा जा सकेगा कि यह ग्रन्थ रामानन्द सम्प्रदाय के आचार्य रामानन्द स्वामीजी का ही लिखा हुआ है। ब्रह्मसूत्रों पर विस्तृत वृत्ति राम की भक्ति के लिये रचना करके उन्हीं को अर्पण हो यह उपासना का आचार्य ही करता है। उसका यह अन्तिम उदाहरण है—

यः सर्वश्रुति वन्दि वन्दित तनुर्मात्म निद्रां गतः,
सुप्तोऽस्मिन् भवपत्तनेऽपरिमिते कल्पान्त तल्पान्तरे।
यः सर्वाऽपरिपन्थि साङ्ग नयतः प्रज्ञा प्रवाहान्ततः,
प्रज्ञालभ्य सुखाकृतिः कृतिमिमां रामः सगृह्णातुनः।
विदुषां कण्ठभूषेयं कृता वृत्तिमर्या प्रभो,
व्यासवाङ् मणि संदृब्धा, प्रीतयेतेऽस्तु सर्वदा।

ये आचार्यपाद के अन्तिम शब्द हैं। इस दर्शन का विषय भगवान् श्रीराम हैं। समस्त श्रुतियाँ उन्हें ही बताती हैं तथा सृष्टि की रचना और प्रलय उन्हीं के हाथ में है। भक्ति भावना के द्वारा ही वे प्राप्त होते हैं ऐसे अपने प्रभु की प्राप्ति के लिये वे इस ग्रन्थ को लिखकर उन्हीं को समर्पित कर देते हैं। आचार्य भगवान् का लिखा हुआ यह ग्रन्थ रामोपासना का मुख्य दर्शन है।

यह ग्रन्थ प्राचीनकाल में बहुत ही प्रसिद्ध रहा है। विद्वानों की दृष्टि यद्यपि इसकी ओर आकर्षित हुई है परन्तु वे यह निर्णय

नहीं कर सके हैं कि यह महान् ग्रन्थ कौन से रामानन्द द्वारा रचा गया है। उन लोगों को इस निर्णय की आवश्यकता ही क्या थी। यह महान् ग्रन्थ किस तरह अनाथ की तरह फेंका फिरा है इसका एक रोमाञ्चकारी इतिहास है। लॉजर्स प्रेस के 'पण्डित-पत्र' में सर्वप्रथम यह प्रकाशित हुआ है। लगभग पचपन वर्ष पहले १९०४ ई० में बनारस के अन्दर लॉजर्स प्रेस था और उससे प्रकाशित होने वाले 'पण्डितपत्र' की अनेक मासिक प्रतियों में यह ग्रन्थ छपा और उसके बाद किस तरह इसे लोगों ने व्यापार के क्षेत्र में उड़ाया और इसका नाम भ्रष्ट किया तथा इसके लेखक का भी नाम भ्रष्ट किया यह एक दयनीय इतिहास है। पण्डितपत्र के बाद यह ब्रह्मसूत्र वृत्ति पुनः पुस्तकाकार के रूप में आई और उसे किसी भगवतीप्रसाद बी. ए. ने वैसा रूप दिया। उस समय 'ब्रह्मामृत वर्षिणी' ही नाम रहा। उसके बाद दूसरे प्रेसों के हाथ में वह वस्तु गई। कहीं उसका 'वेदान्त दर्शन' नाम हुआ तो कहीं 'ब्रह्म सूत्राणि' नाम हुआ। इस प्रकार इसकी रूप रेखा बदलती रही। कोई पूछने वाला नहीं कि इस महान् ग्रन्थ की ऐसी दशा क्यों हुई। यह ग्रन्थ तो रामोपासना का था परन्तु वहाँ तो अत्यन्त अन्धकार था तब उसकी खबर कौन लेता? सन् १९४४ ई० में यह ग्रन्थ मेरी खोज में आया और इस पर मैंने लम्बा अध्ययन किया। इसकी बिगड़ी हुई एक खण्डित पुस्तक सरस्वती भवन काशी में जमा है परन्तु उसे लोगों ने कब बिगाड़ा है और क्यों बिगाड़ा है यह पता नहीं चला। मैंने अधिक उस पर खोज इसलिए ही की कि सम्भव है यह महान् ग्रन्थ रामानन्द सम्प्रदाय के आचार्य का ही तो न हो? ग्रन्थ पर जो कुछ मैंने समझा उसे एक नोट के रूप में लिख कर रख दिया था। मैं चाहता था कि यह ग्रन्थ रामानन्दी विद्वानों के सामने लाकर तमाम सम्प्रदाय के विचार का विषय बनाऊँ परन्तु वैसा नहीं कर सका। इसका एक

कारण यह था कि इस ग्रन्थ को समझने योग्य जो भी रामानन्दी विद्वान् थे वे परस्पर ही कुछ भीतरी विवाद में फँसे थे। वे उस समय का उपयोग नहीं कर सके। इसी से ग्रन्थ की कुछ चर्चा आगे नहीं हुई और वह विषय वहीं रह गया। यह तो निर्विवाद अब भी कहा जायेगा कि यह ग्रन्थरत्न सिद्धान्त से तथा परत्व से रामोपासना का है।

इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में कुछ ऐतिसहासिक प्रमाण की भी ऐसी झलक मिलती है जिससे इसे हम रामानन्द सम्प्रदाय के आचार्य रामानन्द स्वामीजी का ही रचा हुआ कह सकते हैं। 'प्रसंग पारिजातम्' पैशाची ग्रन्थ में ७९ वीं अष्टपदी के अन्दर एक कथानक आया है। उसमें कहा गया है कि एक समय काशीपुरी में आचार्य रामानन्द स्वामीजी के आश्रम पर विद्वानों का समूह—जिसमें दक्षिण के भाऊजी शास्त्री प्रमुख थे—आया। वह समूह सभी मत के दार्शनिकों का था और स्वामी का नाम सुनकर उनके दर्शन को आया था। आश्रम के किसी वयोवृद्ध ने उस समूह के विद्वानों से कुछ प्रश्न किये जिनका उत्तर वे नहीं दे सके और लज्जित हुए। वयोवृद्ध ने पुनः कहा कि आचार्य भगवान् के दर्शन अभी नहीं होंगे और कब होंगे यह भी कहना असम्भव है। विद्वान् लोग वहीं बैठे रहे सबके हृदय में यही लालसा तीव्र हुई कि आचार्य के दर्शन करके ही जायेंगे। आधी रात के समय एकाएक आचार्य की गुहा का द्वार खुला और सबको आचार्य भगवान् के दर्शन हुये। तेजपुञ्ज आचार्य के दर्शन से सब लोग कृतार्थ हुये और बड़ी सावधानी से उनका पवित्र उपदेश सुना। आचार्यपाद ने सभी मतों पर प्रकाश डालते हुए ब्रह्मसूत्र के ऊपर सुन्दर विवेचन किया जिसे सुनकर विद्वान् लोग मुग्ध हो गये। स्वामीजी का यह उपदेश 'अमृतवर्षिणी' नाम से लोक में संग्रह हुआ। यह प्रसंग हमने महान् विद्वान् विनायकजी की टीका से लिया है। वह टीका 'प्रसंग पारिजातम्'

पैशाची ग्रन्थ पर हमारी खोज से बहुत ही पहले हुई है। हम सोचते हैं कि आचार्य रामानन्द का ब्रह्मसूत्र पर दिया हुआ वह उपदेश यही 'ब्रह्मामृतवर्षिणी' है। 'अमृतवर्षिणी और ब्रह्मामृतवर्षिणी' में कोई अधिक अन्तर नहीं है। अमृतवर्षिणी साँकेतिक नाम है और ब्रह्मामृत वर्षिणी पूरा नाम है, ऐसा होने में कोई आपत्ति नहीं है, लोक में बहुधा ऐसा होता है। इस ग्रन्थ के साथ रामानन्द का नाम और राम का परत्व अधिक और भी पुष्ट कर देता है कि यह ग्रन्थ रामानन्द सम्प्रदाय के आचार्य स्वामी रामानन्दजी महाराज का ही रचा हुआ है।

दुर्भाग्य से इस ग्रन्थ रत्न को रामानन्द सम्प्रदाय यदि नहीं भी ले तो भी यह ग्रन्थ उसी की ओर झुकेगा अथवा नष्ट हो जायेगा क्योंकि यह राम भक्ति का प्रतिपादक है और इसमें साकार ब्रह्म और निराकार ब्रह्म दोनों का निरूपण हुआ है जो शुद्ध विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में होता है। इस ग्रन्थ को दूसरा सम्प्रदाय कोई छुयेगा भी नहीं क्योंकि इसमें उसकी सामग्री कुछ भी नहीं होगी। यह ग्रन्थ अपने ढंग का विलक्षण ही है और समस्त ब्रह्म सूत्र पर लिखे हुए ग्रन्थों से हमारे ध्यान में अधिक श्रेष्ठ भी है। अब आगे इसका भविष्य कैसा होगा इसे तो भगवान् ही जानें।

७—रामतापनीयोपनिषद्

यह रामोपासना का प्रधान ग्रन्थ है, इस उपनिषद् में केवल राम की महिमा भरी हुई है। इस पर अवध के एक महात्मा हरिदासजी ने विस्तृत भाष्य लिखा है। महात्मा हरिदासजी को हुए लगभग एक सौ वर्ष से ऊपर हो गये। वि० सम्वत् १९००, के अन्त में इनका प्रादुर्भाव हुआ है। वाल्मीकीय रामायण पर शिरोमणि' टीका के रचयिता विद्वान् शिवसहायजी इनके गुरु भाई थे और सम्प्रदाय दीक्षा तथा अध्ययन उनका इनके साथ ही हुआ था पं० शिवसहायजी प्रयाग चले गये और वहीं उन्होंने श्रीमद्वाल्मी-

कीय पर महान् टीका की तथा हरिदासजी अवध में ही रह गये और इन्होंने रामतापनीयोपनिषद् पर भी विस्तृत भाष्य लिखा है। कहते हैं कि हरिदासजी ने दस प्रधान उपनिषदों पर अपने स्वयं भाष्य लिखे हैं। इसके अतिरिक्त इन्होंने ब्रह्मसूत्र और गीता पर भी विस्तृत भाष्य लिखे हैं। वे सब महान् ग्रन्थ अभी अप्रकाशित रूप में अवध के अन्दर रखे हुए हैं। श्रीरामस्तव राज पर भी इन्हीं का लिखा हुआ भाष्य प्रकाशित हो चुका है। इस प्रकार हरिदासजी ने संस्कृत साहित्य की रचना करके रामोपासना का क्षेत्र भर दिया है। प्रचार न होने से उन ग्रन्थों को लोग कम पहचानते हैं। प्रकाशन नहीं कराने की प्रथा रामानन्द सम्प्रदाय में बहुत प्राचीन काल से चली आई है। रामानन्दी लोग पवित्र ग्रन्थों को प्रकाशित कराना अपराध समझते आये हैं। इसी से इनके यहाँ की साहित्य के क्षेत्र में बहुत कम सामग्री पहुँची है! आधुनिक युग में पुनः प्रतिलिपि करने की प्रथा बहुत कम है। यदि प्राचीन ग्रन्थों को प्रिन्ट नहीं करावें तो उनके वेग ही नष्ट होने की सम्भावना हो जाती है। रामानन्द सम्प्रदाय में देखा गया है कि उसके प्रायः सभी स्थानों में बड़े-बड़े सुन्दर ग्रन्थ सड़ गये हैं और उन्हें पीछे फेंक दिया गया है। 'भक्तिसिन्धुबेला' नाम का अनन्तानन्दीजी महाराज का वृहद्ग्रन्थ आज भूतल पर देखने को नहीं मिलता। भक्तमाल में उसका विशेष विवरण हुआ है पर वह इसी तरह लोप हो गया। यह प्राचीन ग्रन्थों का परिचय है।

आधुनिक विद्वान् भी रामानन्द सम्प्रदाय में बहुत से ग्रन्थ लिख रहे हैं और भविष्य में भी लिखे जायेंगे। इस प्रकार तो प्रगति के युग में हमें पूर्ण विश्वास है कि जल्दी ही रामोपामना के क्षेत्र में साहित्य को कमी पूरी हो जायेगी।

उतरार्द्ध

अनुपम पुष्प कबीर जिनकी राममयी सुगन्ध से भूतल सुगन्धित हो उठा, जिनका जन्म पुष्पमय, जिनका मरण पुष्पमय, उन्हीं वन्दनीय कबीर का व्यक्तित्व एवं कृतित्व इसमें है ।

रामानन्दसम्प्रदाय की शाखाएँ

रामानन्दसम्प्रदाय का स्वरूप भारत में एक विशाल वटवृक्ष के समान है इसकी हरी-भरी छाया में सारा देश शान्ति ले रहा है। इस विशाल वृक्ष के अनेक स्कन्द हैं जो दिशाओं में फैले हुए हैं। उन स्कन्धों की इतनी विशालता है कि वे एक दूसरे को नहीं देख पाते। मूल से भी वे इतने आगे बढ़ गये हैं कि वे कार्य और कारण के आधार पर ही वे उसे स्मरण रखते हैं परन्तु उसका स्वरूप नहीं देखते। मूल भी इतना विशाल है कि वह अपनी शाखाओं पर बहुत कम ध्यान डालता है और यदि किसी ऐतिहासिक कारण से उसका उनकी ओर ध्यान भी जाता है तो उन पर उसकी ममता नहीं है। वटवृक्ष की शाखायें जिस प्रकार स्वयं अपने में से जड़ें फेंक कर अपना आधार बना लेती हैं, उसी प्रकार उन स्कन्धों ने भी जड़ें स्वतः स्थिर कर ली हैं और अब वे मूल के अधीन नहीं रहे हैं। ऐसा होते हुए भी उनके सम्बन्ध अमर हैं जो उन्हें मूल की ओर खींचते हैं।

१. कबीरपंथ

यह रामानन्द सम्प्रदाय का ठोस और संगठित स्कन्ध है। यह सम्पूर्ण भारत में फैला हुआ है। रामानन्द सम्प्रदाय से इसका घनिष्टतम सम्बन्ध है। परन्तु विचार व्यवहारों में इसका कुछ अन्तर है। इस पंथ के संस्थापक लोक प्रसिद्ध आचार्य रामानन्द के प्यारे शिष्य कबीर जी महाराज हैं देश की विषम परिस्थितियों में इस हिन्दू जाति का बहुत बड़ा संगठन किया है। रामोपासना के विस्तृत क्षेत्र में भी इस पंथ ने बहुत ही ठोस कार्य किया है। सभी रामानन्द वृक्ष की शाखाओं में यह सर्वप्रथम उत्पन्न हुई शाखा है। इससे उस वृक्ष को अधिक बल मिला है। इस पंथ का

स्वरूप अब उस प्राचीन स्वरूप से कुछ विकृत-सा होता जा रहा है सम्भव है कि पुनः इसमें जागृति हो जाय और इसका विशुद्ध स्वरूप पुनः लोक में देखने को मिले। यह पंथ विरक्त सन्तों का ही एक पंथ है और रामानन्दियों के समान ही लोक में कालक्षेप करता है। रामानन्द सम्प्रदाय के सभी धर्म इसमें विद्यमान हैं।

२. रामसनेही शाखा—

रामसनेही शाखा रामानन्द सम्प्रदाय का दूसरा स्कंध है। यह भी ठोस और संगठित शाखा है। इसकी धारा रामानन्द सम्प्रदाय से बहुत अंश में मिली हुई चली है। इसमें रामनाम से अत्यधिक स्नेह होने के कारण इसके सन्तों का नाम रामसनेही पड़ा। यह विरक्तों का पंथ है और इसके सन्त उदार और आत्मारामी होते हैं। वैसे तो यह दल सारे भारत में फैला हुआ है परन्तु विशेष रूप से इसका प्रचार राजस्थान तथा मालवा आदि प्रान्तों में अधिक है। रामसनेही सन्त राम द्वारों की स्थापना करते हैं और निरन्तर श्रीरामनाम के जप में निमग्न रहते हैं। रामसनेही सन्त वैष्णवधर्म को पालन करते हुए श्रीरामनाम का प्रचार करते हैं। मूर्तिपूजन के खटराग में इनके राम द्वारे नहीं पड़ते हैं परन्तु उसके विरोधी भी नहीं होते हैं।

रामसनेही सन्तों की दो गद्दियाँ हैं, एक है 'शाहपुरा' भीलवाड़ा के पास और दूसरी है 'सेहस्थल' बीकानेर के पास। वे दोनों गद्दियाँ परस्पर सम्बन्धित नहीं हैं, एक दूसरे से अलग-अलग हैं। इन दोनों का सीधा सम्बन्ध रामानन्दसम्प्रदाय से है। शाहपुरा का सम्बन्ध गलता गद्दी जैपुर से बताते हैं पर उनकी परम्परा श्रीअग्रजी महाराज जो पयोहारी जी के शिष्य थे—से जोड़ी जाती है। सेंहस्थल बीकानेर से एक ''रामस्नेह धर्म-प्रकाश'' और एक 'श्रीराम पाठ' पुस्तक निकली है उसमें रामानन्दाचार्यजी तथा

उनके शिष्य अनन्तानन्दजी की वन्दना की है। अनुमान होता है कि वह परम्परा भी गलता से ही जोड़ी जायेगी क्योंकि अनन्तानंदजी के शिष्य पयोहारीजी ने गलता की स्थापना करके तमाम राजस्थान में प्रचार किया है। इस पुस्तक में आचार्य रामानन्द का स्मरण करते हुए लिखा 'रामानंदमहं वंदे श्रीरामांशावतारकम्। आचार्याणाँ शिरोरत्नं मंत्रराज प्रचारकम्। इस बीकानेर की गद्दी में श्रीमंत्रराज की परम्परा आई है अतः इसे पन्थगद्दी नहीं कह सकते हैं, सम्प्रदाय की गद्दी ही कह सकते हैं। रामानन्द की और द्वारा गद्दियों के समान यह भी एक द्वारा गद्दी है। इसके आचार्य श्रीहरिरामदासजी महाराज हुए हैं। राम सनेही सन्त रामानन्द सम्प्रदाय के बहुत ही निकट रहे हैं। श्रीरामोपासना का जैसा का वैसा ही प्रचार अनन्यभावना से इनके यहाँ होता चला आया है। इन सन्तन में थोड़ी सी परमहंस वृत्ति आ गई है, शेष सब प्रक्रिया एक ही है। शाहपुरा की गद्दी को उनके अनुयायी चाहें तो पंथ गद्दी कह सकते हैं परंतु विचार करने पर वह भी बीकानेर गद्दी के समान ही सम्प्रदाय द्वारा गद्दी कही जा सकती है। युग के अनुसार व्यक्तियों के विचार बदलते जाते हैं। भविष्य में रामसनेही सन्त भी अपना स्वरूप बदल सकते हैं परन्तु इस बात को उनके राम ही जानें।

३. दादूपंथ—

रामानन्द सम्प्रदाय की यह भी एक सुदृढ़ शाखा है। इसके सन्त सभी विरक्त सन्त हैं तथा अपना निर्वाह परमहंस वृत्ति से किया करते हैं। दादूपंथ के सन्त सभी प्रान्तों में हैं परन्तु अधिकांश इनका क्षेत्र राजस्थान, गुजरात तथा मालवा में है। दादू पंथी सन्त रामानन्दी निर्मोही अखाड़े के अन्दर सम्बंधित हैं। पिछले संघर्षों में दादूपंथियों ने रामनन्दियों का हर प्रकार साथ

दिया है। ऐतिहासिक आधार पर रामानन्द सम्प्रदाय की धारा के भीतर ही दादूपंथ बढ़ा है। इस पंथ के संस्थापक दादूजी महाराज हैं। विचार व्यवहारों में यह पंथ अब कुछ रामानन्द सम्प्रदाय से दूर हो जाता है परन्तु ऐतिहासिक और सांस्कृतिक आधार पर यह दूर नहीं जा सकता। इस पंथ का प्रचार मुख्य रूप से श्रीरामनाम ही है।

४—निरञ्जनी शाखा

निरञ्जनी शाखा रामानन्द सम्प्रदाय की छोटी शाखा है। इसके विचार और व्यवहार रामानन्द सम्प्रदाय से सर्वांश में मिलते-जुलते हैं। इस शाखा में श्रीराम जानकी के मन्दिरों की भी स्थापना होती है तथा पूजन पाठ की साम्प्रदायिक पद्धति से होता है। इसके सन्त और इसके प्रचार राजस्थान में बहुत ज्यादा हैं। दूसरे प्रान्तों में लोग निरञ्जनी सन्तों को कम जानते हैं बहुधा इनमें और रामानन्दियों में बहुत कम अन्तर है इसी कारण इन्हें लोग रामनंदियों के साथ ही गिन लेते हैं। यह शाखा भी रामानंदियों के एक द्वारा का रूप लेती है और इस प्रकार इसकी मूल गद्दी को ३७ द्वारा गद्दियों में मिला सकते हैं।

५—निराकारी शाखा

यह शाखा रामानन्द सम्प्रदाय की सुदृढ़ शाखा है। इसका सम्बन्ध रामानन्दियों से बहुत ही निकट रहा है इसके अन्दर उपासना का स्वरूप ज्यों का त्यों गया है। इस शाखा के सन्त त्यागी और उदार होते हैं। अधिकांश परमहंस वृत्ति में रहकर लोकोपकार करना उन महापुरुषों के कार्य हैं। निराकारी कहने से लोगों को इस बात का भ्रम होता होगा कि ये संत शंकर का मत मानते होंगे परन्तु यह बात नहीं है। निराकारी सन्त विशिष्टाद्वैत, सिद्धांत के मानने वाले होते हैं। बहुत-सी जगह तो इनके आश्रमों

में श्रीराम-जानकी के मन्दिर भी हैं और उनका पूजन वैष्णवधर्म की मर्यादा के साथ हुआ है।

इस शाखा के संस्थापक निराकारीजी महाराज हुए हैं। कहते हैं कि वे आचार्य रामानंदाचार्यजी के बाद सातवीं पीढ़ी में हुए हैं। निराकारी संत वैसे तो सारे भारत में जहाँ-तहाँ मिलेंगे परन्तु विशेष करके इनका प्रचार पंजाब, यू० पी० तथा कुछ राजस्थान के हिस्से में अधिक रूप से होता है। श्रीरामनाम का प्रचार-कल्याण के लिये इनके यहाँ मुख्य माना गया है। निराकारी शाखा को भी हम सम्प्रदाय के रूप में ही कह सकते हैं। इसकी प्रधान गद्दी को हम रामानन्दी ३८ द्वारा गद्दियों के समान ही एक गद्दी मान सकते हैं।

६—समर्थ-स्वामी-रामदासजी भी एक शाखा में हैं

समर्थ स्वामी रामदासजी महाराज दक्षिण महाराष्ट्र देश में हुए हैं। इनका प्रताप और यश भारतीय आकाश में अमर है। छत्रपति शिवाजी महाराज इन्हीं के शिष्य थे। शिवाजी इन्हें स्वयं भगवान् का रूप ही मानते थे। एक साधारण स्थान से उठकर शिवाजी भारत के महान् सम्राट बने यह उन्हीं की कृपा थी। दक्षिण का इतिहास इसे नहीं भूलता है कि महान् समर्थ ने हिन्दू-धर्म की रक्षा के लिये मुसलमानी शासन में शिवाजी के मस्तक पर अपना वरदहस्त रखा था।

समर्थ के घर में रामानन्द सम्प्रदाय की दीक्षा चलती थी। समर्थ जब छोटे बालक थे तब सुनते हैं कि उन्होंने अपने पिता से राममन्त्र की दीक्षा लेने की हठ की परन्तु बालक होने के कारण उन्हें राममन्त्र लेने का अधिकार नहीं है, कुछ बड़े होने पर ही राममन्त्र विधानपूर्वक दिलाया जायेगा, पिता के द्वारा यह उत्तर मिला। इस पर समर्थ बहुत दुखी हुये और रुष्ट होकर घर के

भीतर रामजी के मन्दिर में सिंहासन के नीचे जाकर पड़ गये। रामजी के मन्दिर में सिंहासन के नीचे बालक समर्थ पड़े हैं यह किसी को मालूम ही नहीं था। सेवा पूजा के बाद मन्दिर बन्द हो गया और बालक समर्थ उसी में रह गये। बाहर में चारों ओर उनकी खोज हुई परन्तु वे कहीं नहीं मिले। घर वालों को उनकी रात भर चिन्ता बनी रही और वे सब इसी विचार में पड़े रहे कि बालक कहाँ गया।

भगवान् को दयासागर कहा गया है। वे बालक को भूखा प्यासा मन्दिर में पड़ा देख उसके सामने प्रगट हो गये और उसे दर्शन दिये। भगवान् ने समर्थ की बात सुनी और बड़ी प्रसन्नता से स्वयं ही उन्हें राम मन्त्र की दीक्षा दी। समर्थ रामदास कृतार्थ हो गये। उनका भाग्य कितना उत्तम था जो उन्हें साक्षात् रघुनाथजी के द्वारा ही उपदेश मिला।

समर्थ श्रीरामजी के बड़े ही भक्त थे। उनके मुख से समय-समय पर आठो याम 'समर्थ रघुवीर' 'सर्थ रघुवीर' ध्वनि उच्चारण हुआ करती थी। "श्रीराम जय राम जय जय राम" यह उनका महामन्त्र था। इसका प्रचार तमाम महाराष्ट्र देश में हुआ और आज वह सारे भारत में हैं।

समर्थ स्वामी रामदासजी हनुमानजी की अनन्योपासना भी करते थे जैसा कि प्रायः रामानन्दी संत करते हैं। उन्होंने महाराष्ट्र में ग्राम-ग्राम के अन्दर मारुति की प्रतिमायें मन्दिरों में स्थापित कराई। इस प्रकार समर्थ का सम्बन्ध भी रामानन्द सम्प्रदाय में प्रधान रूप से है।

श्री नानकजी महाराज

महाराज श्रीनानकजी पंजाब में उत्पन्न हुये हैं। राम के प्यारे भक्तों के बीच से इन्हें नहीं भुलाया जा सकता। इन्हें रामोपासना

के संबंध से रामानन्द संप्रदाय के साथ बैठा सकते हैं। वे रामानन्द संप्रदाय के अन्तर्गत हैं या नहीं यह बात दूसरी है। परन्तु वे राम के अनन्यभक्त हैं यह बात दूसरी है। उन्हें राम के महान् भक्तों के बीच से कोई नहीं हटा सकता। उनकी पवित्र यह उक्ति—'संगी साथी तज गये कोई न निभयो साथ। कहु नानक यह विपत में टेक एक रघुनाथ'—रामभक्तों के लिये अमर संदेश है।

अपरिचित शाखायें

अन्वेषण करने से पता चला है कि भारत में अपरिचित रूप में अनेकों महापुरुष हुये हैं जिनके द्वारा रामोपासना का प्रचार हुआ है। उनके आश्रम और गद्दियाँ बनी हुई हैं। वे सब विरक्त महात्माओं की वैष्णव गद्दियाँ मानी जाती हैं। उनका संबंध सीधा रामानन्द सम्प्रदाय से है। उदाहरण के लिये गुजरात में अहमदाबाद के पास 'नड़ियाद' इत्यादि। रामानन्द सम्प्रदाय के भीतर से ही बहुत से महापुरुष परमहंस वृत्ति में पहुँचकर जहाँ-तहाँ बैठ गये हैं। केवल उनके साथ उस समय राम ही रहे और सम्प्रदाय परिचय का उन्हें ध्यान नहीं रहा। परमहंस वृत्ति में ऐसा ही होता है, इस कारण उनके बाद उनके उसी प्रकार के स्मारक बने। सम्पूर्ण भारत में ऐसे अनेक आश्रम हमने देखे हैं परन्तु उनसे रामनाम के प्रचार का भारी सहयोग मिलता है। इन सबको हम कार्य कारण से रामानन्द सम्प्रदाय के साथ ही गिनते हैं और किसी न किसी अंश में इन्हें उसकी शाखायें कह सकते हैं।

हमने विशाल रामानन्द सम्प्रदाय के वृक्ष का वर्णन कर दिया देश के पढ़े-लिखे लोगों को इसका ज्ञान होना बहुत ही आवश्यक है पिछले धार्मिक युग की ऐतिहासिक कथा आगे की पीढ़ियों के लिये धार्मिक विचार धारा में उन्नति का सहयोग देती है। रामोपासना का क्षेत्र इसी प्रकार परम्परा से सदैव सुदृढ़ होता है।

सन्त समुदाय का श्रीरामनाम पर झुकाव

उपासनाकाण्ड में भगवत्प्राप्ति के लिये प्रधान रूप से चार उपाय कहे गये हैं। नाम, रूप, लीला और धाम—ये ही चार साधन साकार ब्रह्म की ओर जीवों को खींचते हैं। नाम भी साकार का होता है और धाम भी साकार का होता है। इन सबमें से किसी एक में भी निष्ठा होने से सभी का उसमें समन्वय हो जाता है परन्तु सरलता की दृष्टि से नाम सबमें श्रेष्ठ हैं। युगधर्म की विशेषता से भी नाम की महिमा सभी ने ऊँची बताई है। सन्त समुदाय—जिसे हम पीछे रामोपासना के सम्बन्ध में लिख चुके हैं नाम की महिमा की ओर झुका है। उन्होंने नाम-जप को सर्वश्रेष्ठ बताया है और केवल उसी का प्रचार किया है।

बहुत से लोग नामजप को निर्गुणधारा में ले गये हैं। उनका कहना है कि श्रीरामनाम निर्गुण ब्रह्म से सम्बन्ध रखता है परन्तु वे यह नहीं जानते कि निर्गुण ब्रह्म सगुण ब्रह्म से अलग नहीं है। ब्रह्म एक ही हैं दो नहीं हैं। राम ऐसा नाम है जिस ब्रह्म का वह दयासिन्धु, भक्त-वत्सल, दीनबन्धु, पतितपावन तथा सर्वशक्तिमान अजर और अमर है इतने लक्षणों को मानकर ही अपने कल्याण की भावना से जीव उस रामनाम का जप करता है। यदि इतने लक्षण उस राम में नहीं होंगे तो उसका जप निरर्थक हो जायेगा। इतने लक्षण साकार ब्रह्म को ही सिद्ध करते है। शंकर के अद्वैतवाद में जिस निर्गुण का कथन आया है वह बौद्धों के समान शून्य है उसमें एक भी लक्षण नहीं है। उसे सन्त समुदाय ने छुआ भी नहीं है, उसका तो उनके यहाँ विरोध ही हुआ है। शंकर के ब्रह्म का विवरण हम पहले उनके प्रकरण में दे चुके हैं। उसका

कोई भी जप नहीं हैं। शंकर के ब्रह्मवाद में एक ही आवाज है 'मैं ब्रह्म हूँ', यह भारत की प्रजा में निरर्थक सिद्ध हुई है। सन्त समुदाय की वाणी में—जहाँ राम का जप कहा है 'मैं ही राम हूँ' यह आवाज कहीं नहीं आई है उसमें दीनता, प्रेम और अपने प्रभु राम के प्रति असीम श्रद्धा का पाठ हुआ है। यह सब उपासनाकाण्ड का ही रहस्य है तथा नाम, रूप, लीला और धाम—जिनके सम्बन्ध में हमने ऊपर लिखा है—में से श्रीरामनाम का जप सर्वश्रेष्ठ और प्रथम कल्याण का ही एक उपाय है।

सन्त समुदाय ने मूर्तिपूजन पर अधिक ध्यान और बल नहीं दिया है, इसलिए भी लोग उन्हें निर्गुण धारा में गिन लेते हैं उनके ध्यान में मूर्तिपूजन ही सगुण ब्रह्म की धारा में माना गया है परन्तु ऐसा है नहीं। रामनाम जप की भावना में और मूर्तिपूजन की भावना में काई अन्तर नहीं है, दोनों का लक्ष्य एक ही है, दोनों ही पार्थिक्य भाव को लेकर खड़े होते हैं, अतः दोनों ही उपासना के अंग हैं। वैदिककाल के ॠषियों ने—जिन्हें हम ब्रह्मवादी कहते हैं जो कुछ वेद के तीन विभागों में कहा है, सन्त समुदाय ने उसे ही स्वीकार किया है। उन ब्रह्मवेत्ताओं ने वेद को तीन भागों में बाँटा है और ज्ञानकाण्ड, उपासना काण्ड तथा कर्मकाण्ड के रूप में वह विभाग लोक में प्रसिद्ध हुआ है। ज्ञानकाण्ड में केवल ब्रह्मतत्व का विचार हुआ है और वह उपासना तथा कर्म के अवलम्ब में खड़ा हुआ है। उपासना तथा कर्म के अभाव में वह ब्रह्म-विचार निरर्थक हो जाता है। उपासनाकाण्ड प्रबल रहा है, उसी के द्वारा ही जिज्ञासुवर्ग ब्रह्म तक पहुँच सका है। कर्मकाण्ड का जटिल प्रकरण है परन्तु उसमें से कुछ कर्म युग के अनुसार उपासना के सहयोग के लिए छट गये हैं। शेष अन्यत्र युगों के क्रम में आते रहे हैं। इस प्रकार तीनों काण्ड किसी न किसी रूप में सदैव साथ ही लिखे गये हैं

हैं। कर्म और उपासना को छोड़कर प्राचीन ब्रह्म-ऋषियों ने कभी ब्रह्म की चर्चा नहीं की है। ब्रह्मचर्चा से केवल ब्रह्म है यही बोध होता है और उससे इतर कुछ नहीं होता। उसके ऊपर उपासना का पाठ आरम्भ होता है और उसी के द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति के लिए जीव का झुकाव होता है। उसी के साथ वे साधन भी आकर खड़े होते हैं जिनके द्वारा उपासना आगे बढ़ती है। साधन ही वहाँ कर्म के रूप में कहे गये हैं। उपासना में कर्मों का समावेश है। इसलिए उपासना मात्र कहने से दोनों का बोध होता है। इस आधार पर ज्ञानकाण्ड नीचे की पहली सीढ़ी है तथा उसके ऊपर की दो सीढ़ियाँ उपासना और कर्मकाण्ड हैं। ये ही विचार रामभक्त सन्त के प्राचीन युगों से चले आये हैं।

रामानन्द के सन्त समुदाय ने एक ही साधना जीव कल्याण के लिए अपनायी है जिसमें ज्ञानकाण्ड, उपासनाकाण्ड तथा कर्मकाण्ड तीनों का समन्वय हो जाता है। वह साधना श्रीरामनाम का जप हैं। उसमें 'श्रीराम' परात्पर ब्रह्म हैं यह भावना ज्ञानकाण्ड है, उसी 'श्रीराम' तत्व से प्रेम करना यह भावना उपासनाकाण्ड है, तथा उसी श्रीरामतत्व के जप में उतर जाना यह भावना कर्मकाण्ड है। जप में कर्मत्व का संनिवेश है क्योंकि वह अन्तःकरण की क्रिया द्वारा होता है। श्रीरामनाम-जप इसी धारणा से होता है। यह क्रिया आधुनिक युग की ही नहीं है अपितु प्राचीन युगों में भी श्रीबाल्मीकीय तथा प्रह्लादि आदि असंख्यों महान् विभूतियों के द्वारा स्वीकृत हुई है। ये ही अनुपम विचार सन्त धारा के हैं। इन्हें नहीं जानकर ही लोग श्रीरामनाम-जप को केवल ज्ञानाश्रयी बताते हैं वे भ्रम में हैं ज्ञानाश्रयी शब्द का सम्बन्ध रामनाम जप से नहीं होता क्योंकि वह उपासनाश्रयी धारा में निश्चित हो चुका है। जो केवल ज्ञानाश्रयी हैं उनका जप और रामनाम की वहाँ क्या आवश्यकता।

———

संत समुदाय में श्रीकबीरजी

अब हम श्रीकबीरजी पर पुनः विचार करते हैं। उनका विषय हमने पीछे छोड़ दिया था। सन्त शब्द वैष्णव धारा के महापुरुषों से सम्बन्ध रखता है और उसका प्रयोग प्रायः वैष्णवों के लिये ही हुआ है। आचार्य रामानन्द के काल से ही उनके अनुयायी त्यागी और विरक्त महात्माओं की संज्ञा सन्तों में हुई है। उन सन्तों की परिभाषा भी यह हुई है कि जो जगत् कल्याण की भावना लेकर भगवद्भजन में कालक्षेप करते हैं तथा राग द्वेष से निवृत्त होकर विरक्त आश्रम की मर्यादा का भी पालन करते हैं वे ही सन्त कहलाते हैं। रामानान्दी सन्त सभी विरक्त महात्मा हुए हैं और सभी ने भगवद्भक्ति का प्रचार किया है। साहित्य के क्षेत्र में सन्त शब्द की जो परिभाषा अब साहित्यकार करते हों परंतु उसका उपयोग रामानन्दी सन्तों पर हमारी उपरोक्त परिभाषा को छोड़ कर दूसरे रूप में नहीं हो सकता। जहाँ कहीं भी लोगों ने इसका विरोध किया है वह असंगत हुआ है। उदाहरण के लिये हम सन्त समुदाय में से सर्वप्रथम और सर्वश्रेष्ठ सन्त कबीरजी महाराज को लेते हैं। वे लोक में तथा आज के साहित्य में बहुत प्रसिद्ध हैं। इतिहासकारों ने बहुत जगह उनके रूप को इतना बिगाड़ा है कि यदि उसकी आलोचना उसके अनुरूप भाषा में की जाय तो बुरी होगी। इसके अतिरिक्त उन्होंने उनकी विचारधारा को निर्गुण या निराकार धारा में निश्चित कर दिया है जो सर्वदा उनके सिद्धान्त के विरुद्ध है। कबीरजी के साथ ऐसा क्यों हुआ है इसके दो कारण प्रतीत होते हैं। एक तो यह कि कुछ लेखक ऐतिहासिक या साहित्य क्षेत्र में ऐसे आये हैं जो स्मार्त धर्म की भावना में रँगे थे, उन्होंने कबीरजी के साथ कुछ ईर्ष्या द्वेष का बर्ताव किया

है। कबीरजी ने अपने धर्मप्रचार युग में ऐसे लोगों की कटु आलोचना की है इसलिये कि वे लोग उनके वैष्णव धर्म प्रचार में भारी बाधाएँ उपस्थित किया करते थे। दूसरा कारण यह भी है कि कुछ ऐसे लेखक आये हैं जिन्हें वेदान्त दर्शन के आधार पर स्थापित हुए विभिन्न सिद्धांत और मत विवादों पर गम्भीर अध्ययन करने का सम्भवतः अवकाश ही नहीं मिला है। इसके अतिरिक्त बहुत से लोग ऐसे भी गम्भीर विचार के साहित्यिक क्षेत्र में आये हैं जिन्होंने कबीरजी पर अच्छा विचार भी प्रकट किया है। लोगों की जैसी धारणा रही है उसी के अनुसार उन्होंने कबीरजी को लिखा है। बुद्ध के बाद कुछ प्रथा धार्मिक क्षेत्र के इतिहास की ऐसी बिगड़ी है कि उसमें किसी का भी सही इतिहास समझने में कठिनता हो गयी है। साम्प्रदायिक लोगों ने यदि कहीं अपने मूल पुरुष के लिये लिखा है तो इतना चढ़ा बढ़ाकर लिखा है कि वहाँ असलियत नहीं रही है। और यदि किसी दूसरे मूल पुरुष के लिये लिखा है तो इतना उसे गिरा कर लिखा है कि उसमें भी सत्य को ठगा है। आचार्य शंकर के बाद तो वह प्रथा इतनी खराब हो गई है कि उसमें सत्य की झाँकी कठिनता से भी नहीं होती। एक सम्प्रदाय वाले ने दूसरे सम्प्रदाय को बुरा बता कर ही अपना प्रचार किया है। किसी भी सम्प्रदाय के साहित्य को नष्ट करना उसके ग्रन्थों को चुरा कर अपने सम्प्रदाय के नाम प्रकाशित करना यही उस सम्प्रदाय का विधान बन गया है। बहुत से सम्प्रदाय इसी तरह उठे और बहुत से इसी तरह मिटे ऐसा ऐतिहासिक छानबीन में देखा गया है। महान् कबीर के साथ यदि लोगों ने वैसा वर्ताव किया है और उन्हें गिराने का प्रयास भी किया है तो यह कोई नई बात तो नहीं मानी जायगी अभागे भारत की तो यह प्रथा ही चली आ रही है।

कबीरजी और उनका वैष्णवधर्म

हम पहले लिख चुके हैं कि कबीरजी लोक प्रसिद्ध आचार्य रामानन्द के प्रधान विरक्त शिष्यों में से एक थे। उन्हें वैष्णवधर्म के पवित्र विरक्त संस्कारों के साथ दीक्षा मिली थी, उसे उन्होंने जीवन भर पालन किया था। कबीरजी को वैष्णवधर्म बहुत ही प्रिय था इसीलिये ही वे उसके सूचक पवित्र तिलक और तुलसी की कण्ठी को मस्तक और कण्ठ में धारण किया करते थे। उन्हें आचार्य रामानन्द ने वैष्णवधर्म के प्रचार की भी आज्ञा दी थी, इसलिये वे उसका प्रचार भी करते थे। कबीरजी के विरोध में स्मार्त ब्राह्मणों का एक झुण्ड भी खड़ा था वह इन्हें प्रचार के क्षेत्र से निन्दा करके गिराना चाहता था ब्राह्मणों का कहना था कि कबीर का उपदेश नहीं सुनना चाहिये क्योंकि वह जुलाहा है उसे उपदेश का अधिकार नहीं हैं। कबीरजी ने इसके उत्तर में कहा है- "जो तुम ब्राह्मन-ब्राह्मानी जाये और राह तुम काहे न आये"। यह बहुत ही कड़ा उत्तर है और बड़े ही विरोध में दिया हुआ प्रतीत होता है। वे कहते हैं कि यदि ब्राह्मन तुम श्रेष्ठ बनते हो तब तुम्हें किसी दूसरे रास्ते से आना था। जैसे सबका शरीर मल-मूत्र से उत्पन्न हुआ है वैसे ही तुम भी उसी मल-मूत्र से उत्पन्न हुये हो तुम कैसे सबसे श्रेष्ठ हो ? ब्राह्मन का शरीर यदि किसी दूसरे तत्व से बना होता तब तो उसका अभिमान ठीक भी था ऐसे तो उसका जाति के नाम पर कोरा अभियान व्यर्थ है। यह उक्ति कबीरजी की बड़ी ही साहसपूर्ण है। मालुम होता है कि कबीरजी का पक्ष बहुत ही बलवान था और जनता उसके साथ थी। मुसलमानी शासन में वह ब्राह्मणों के बाद से तंग सी आई हुई थी ऐसी प्रतीति होती है। जो कुछ भी हो कबीरजी के विचारों का जनता ने आदर किया था और कोरे ब्राह्मणवाद का उसके यहाँ उस समय कोई

स्थान नहीं था। हमने गोस्वामीजी के प्रकरण में लिखा है कि इन्हीं हठधर्मी ब्राह्मणों ने उन्हें भी बहुत सताया था। उन्हें भी जुलाहा, नीच, धूर्त और पाखण्डी आदि गन्दे शब्दों से सम्बोधन करके अपमानित करने का प्रयत्न किया था परन्तु श्रीतुलसीदासजी ने उन्हें बड़ी नम्रता और दीनता से उत्तर दिया है। कबीरजी महाराज गुसाईंजी महाराज का बहुत सा मार्ग साफ करके गये थे इसलिये वे कबीरजी के पदचिन्हों में चलने में अधिक सफल हुए। कबीरजी महाराज से शैव शाक्तों की बड़ी भयानक मुठभेड़ें हुई है, जिन्हें उन्होंने अपने गुरुदेव की कृपा से पार किया था। कबीरजी असाधारण प्रतिभाशाली महापुरुष थे, आवश्यकता पड़ने पर वे अपने महान् योगबल का भी आश्रय लेते थे। नाथ सम्प्रदाय के सिद्ध योगी श्रीगोरखानाथजी तथा कबीरजी का संघर्ष प्रसिद्ध ही है। कहते हैं कि गोरखनाथजी ने वैष्णवधर्म के मिटाने का बीड़ा उठाया था। वे अपने योगबल से यही करते थे कि जहाँ कहीं किसी वैष्णव सन्त को पाते थे, उसका चन्दन तिलक चाट लेते थे और उसकी तुलसी कण्ठी को तोड़ लेते थे। इस प्रकार उन्होंने वैष्णव जगत् में आतंक मचा दिया था। वे आचार्य रामानन्द की शक्ति को तौलने के लिये उन्हीं की ओर बढ़ रहे थे। कुछ लोगों के विचार हैं कि यह घटना सौराष्ट्र के गिरनार पर्वत पर हुई है तथा कुछ लोगों का कहना है कि यह घटना काशी में ही हुई है। 'कबीरचौरा' काशी से एक 'गोरख गोष्ठी' नाम की छोटी-सी पुस्तिका प्रकाशित हुई है उसमें कबीर और गोरख का विवाद दिखाया है परन्तु वह पुस्तक प्राचीन हिन्दी के छन्दों में है उसके आधार पर और कुछ जन जातियों के आधार पर वह संघर्ष काशी में ही हुआ है। जब गोरखनाथ आचार्य रामानन्द से विवाद करने के लिये आ रहे थे उस समय रामानन्द स्वामी के शिष्य कबीरजी ने उनसे विवाद करने के लिये अपने गुरुदेव से सर्वप्रथम स्वीकृति ली और संघर्ष

किया। कबीरजी ने अध्यात्मिका योगबल में गोरखनाथ को जीत लिया और साथ ही साथ उनकी सिद्धि भी छीन ली। नेपाल की यात्रा में हमने सुना कि नैपाल में एक गोरखनाथ का मन्दिर है और गोरखनाथजी उसी जगह अदृष्ट रूप से तपस्या भी करते हैं। कबीरजी ने संघर्ष में गोरख को हराकर भारत से हटा दिया और तब से वे वहीं रहते हैं। उन दोनों के संघर्ष में हार-जीत होने पर ऐसी शर्त थी। कबीरजी उसमें विजयी हुए और गोरखनाथजी हार गये। नैपाल में भी कबीर की टोपी लगा कर ही गोरख रह सकते हैं ऐसी प्राचीन दन्त कथाएँ हैं उनमें अवश्य कुछ तथ्य भी है।

ऐतिहासिक गवेषणा वाले गोरख का काल कुछ पहले मानेंगे और कबीर का काल पीछे मानेंगे तब तो यह प्रश्न उठता है कि उका मेल कैसे हुआ? उस पर कहते हैं, गोरखपन्थियों ने गोरख को अमर माना है और बहुत से तो ऐसा कहते हैं कि गोरख अविनाशी, राम और कृष्ण के समय भी थे और अब भी हैं। यह तो हम मानते हैं कि गोरखनाथ जी योगी थे उनकी आयु कैसी? वे बहुत काल तक जीवित रह सकते हैं अतः कबीर के समय भी थे। राम और कृष्ग के समय में तो होना उनका गप्प है क्योंकि प्रचोन किसी ग्रन्थ में इसका उल्लेख नहीं आया। वस्तुतः गोरखनाथ बहुत प्राचीन नहीं है वे कबीर जी के काल से मिलते से हैं। कुछ आयु में बड़े हो सकते हैं और योगी होने के नाते से अधिक बड़े भी हो सकते हैं परन्तु वे उनके काल में थे यह सत्य है। नाथ पन्थ का उस समय भारत में भारी प्रचार था और यह सब गोरखनाथ जी के बल पर ही हो सकता है। ऐतिहासिक आधार पर यह कहना कोई अत्युक्ति नहीं होगो कि नाथ पंथ को उखाड़ कर ही रामानन्दियों ने रामभक्ति के झंडे भारत में गाड़े हैं। गलता गद्दी जैपुर की स्थापना तथा इसी प्रकार देश के विभिन्न भागों में अनेक स्थानों की (नाथों को दबाकर) स्थापना उग बात

की पुष्टि करती है। इतिहासकार यदि अपने हठ से मूल गोरखनाथ को उस समय नहीं मानें तो उनके समकक्ष उनकी गद्दी पर कोई दूसरा प्रतापी गोरखनाथ होगा और उसी ने भारत में गोरखपन्थ फैलाया होगा यह सिद्ध हो सकता है। गोरख की गद्दी पर दूसरे भी बैठनेवाले गोरख कहला सकते हैं जैसे शंकराचार्य की गद्दियों पर होने वाले शंकराचार्य कहलाते हैं। इस प्रकार भी कबीरजी तथा गोरखनाथजी का संघर्ष सत्य सिद्ध होता है। कबीर पन्थ में तिलक का जो स्वरूप कबीरजी के बाद चला उसे कबीरजी ने गोरखनाथ को जीतने के लिए ही धारण किया था, उसे गोरखनाथ नहीं चाट सके यह भी पिछला इतिहास चला आता है।

वैष्णवधर्म के प्रधान संस्कार तिलक और तुलसी की कण्ठी की निन्दा करने वालों को कबीरजी ने बहुत ही फटकारा है। उहोंने कहा है—

माला तिलक निन्दा करें ते परगट जमदूत।
कहैं कबीर विचार के तेई राक्षस भूत।।
द्वादश तिलक बनावई अङ्ग अङ्ग अस्थान।
कहैं कबीर विराज ही उज्ज्वल हंस समान।।

(कवीर साखी)

कबीरजी के सामने वैष्णवधर्म के संस्कारों की बहुत ही बुरे शब्दों में निन्दा की जाती होगी और उसका उत्तर भी कबीरजी उसी तरह देते होंगे। यह भी वैष्णवोचित तिलक और माला कण्ठी की निन्दा का उत्तर है। वे कहते हैं, जो तिलक और तुलसी की माला की निन्दा करते हैं ये राक्षस होते हैं भूत होते हैं और जयदूत होते हैं, कबीर के विचार में वे मनुष्य नहीं होते। जो लोग द्वादश तिलक और तुलसी की कण्ठीमाला पवित्र अंगों पर धारण करते हैं वे कबीरजी के विचार में हंस के समान निर्मल होते हैं। कबीर के

ये भाव वैष्णवधर्म के संस्कारों के प्रति बहुत ही सम्मान में कहे गये हैं।

श्रीकबीरजी के प्रचार में शाक्तों से भी संघर्ष चला है। शाक्त लोग शक्ति के ऊपर बलि चढ़ाने में असहाय जीवों की हिंसा करते थे और स्वयं भी मांसाहारी होते थे। वैष्णवधर्म हिंसा के विरोध में खड़ा हुआ है तब तो उसके प्रचारक कबीर से शाक्तों का संघर्ष होता ही होगा। उन्होंने शाक्तों से दूर रहने को कहा है—

'वैष्णव की झोपड़ी भल'
साकत को नहि गाम,'

(कबीर बीजक, कबीर साखी)

भगवान् वैष्णव की झोपड़ी में बासदे वह अच्छा परन्तु शाक्त के ग्राम में न बसावें।

कहा सुआन को सिम्रिति सुनाए,
कहा साकत पिह हरिगुन गाए,
राम राम राम रमे रमि रहिये,
साकत सिउ भूलि मत कहिये।

(कबीर साखी)

कबीरजी देवताओं के नाम पर जीव हिंसा को देखकर बेचैन हो जाते थे। पढ़े-लिखे पण्डित जब हिंसा करके देवी की पूजा करते थे तब उनका पढ़ना-लिखना पुराण-स्मृति सुनना सब व्यर्थ था। कबीरजी कहते हैं कि सुवान (कुत्ता) को स्मृति और शस्त्र सुनाने से क्या लाभ तथा शाक्तों को हरिकथा सुनाने से भी क्या प्रयोजन अपने प्रभु का पवित्र रामनाम ही एकान्त में जपते रहना चाहिये। शाक्त से तो भूल के भी बात नहीं करनी चाहिये।

कबीरजी निर्भीक और स्पष्ट बोलते थे। वे जनता के सामने सही विचार प्रगट करते थे। सत्य के प्रचार में भय करना वे जानते ही नहीं थे। यदि वे ऐसा नहीं करते तो संसार की उन

युगों में आँखें नहीं खुलती। स्पष्ट बोलने में कबीरजी अपने युग के एक ही महान् थे। आगे वे और भी खोल कर कहते हैं—

सन्तो पाण्डे निपुण कसाई।

बकरा मारि भैंसा पर धावें दिल महुँ दर्द न आई।
करि अस्नान तिलक दे बैठे विधि से देवि पुजाई।
आत्म राम पलक में बिन से रुधिर की नदी बहाई।
अति पुनीत ऊँचे कुल कहिये सभा माँहि अधिकाई।
इनते दीक्षा सब कोई मांगे हँसि आवे मोहि भाई।
पाप कटन को कथा सुनावें कर्म करावें नीचा।

(कबीर बीजक)

हे सन्तों, ये त्रिपुण्डधारी विधि विधान से देवी को पूजने वाले पण्डे बड़े ही चतुर कसाई हैं। ये लोग देवी के नाम पर बकरा को काट कर और फिर भैंसा पर धावा बोलते हैं। इनके हृदय में इन असहाय पशुओं को मारते समय थोड़ा भी दर्द नहीं होता। एक पलभर में इन जीवों के आत्माराम को विनाश करके रक्त की नदी बहा देते हैं। सभाओं में ये सब बड़े ही पवित्र ऊँचे कुल के बनकर अभिमान से बैठते हैं। तथा इनसे जब लोग इन्हें ऊँचा पूज्य समझकर दीक्षा माँगते हैं तब मुझे बड़ी हंसी आती है। दूसरों के पाप काटने को तो ये लोग कथा पुराण सुनाते हैं परन्तु स्वयं ही नीचा कर्म करते हैं।

कबीरजी ब्राह्मणों के द्वारा बकरा भैंसों की निर्मम हत्या देखकर दुखी हो उठे थे। कहाँ तो ब्राह्मणों को साम दाम और तपस्याओं में लगे रहने को शास्त्र बताता है और कहाँ उनके वैसे। कर्म जीत दया तो ब्राह्मण जाति का बना ही है परन्तु इन कलियुगी ब्राह्मणों को—जो देवी का प्रसाद बनाकर पशुओं को खा जाते हैं और देवी का ही प्रसाद शराब का प्याला बड़े प्रेम से छकते हैं और फिर

भी लोगों के गुरु बनने के लिये उन्हें ठगते हैं—यह बड़ी ही निन्दित बात है। कबीरजी ने जो कुछ दुखित होकर वैष्णव हृदय से कहा है वह उनके ध्यान में सर्वथा सही है। कबीरजी ने ये बातें शाक्तों को कहीं हैं वैष्णव ब्राह्मणों को नहीं कहीं हैं।

कबीरजी हिंसा के विरोधी थे और वैष्णवधर्म के नियमों के अनुसार वे किसी भी जीव को मार कर खाने वालों को फटकारते थे। उन्होंने मुसलमान काजी मुल्लाओं की भी आलोचना की है।

काजी कान करो तुम कैसा घर घर जिवह करावह वैसा।
बकरी मुरगी किन फरमाया जिसके कहे तुम छुरी चलाया।
दरद न जानहु पीर कहावहु बैता पढ़ि-पढ़ि जग भरमावहु।
दिन को रोजा रहत है रात हनत है गाय,
यहै खून वह बन्दिगी क्यों कर खुशी खुदाय।

(कबीर बीजक रमैनी)

धर्म के नाते पर जीवों को मारना कबीरजी के ध्यान में बड़ा ही पाप है। उन्होंने कहा है—'खुदा के नाम पर गाय काटना या दूसरे जीवों को काटना और रोजा रखना कहाँ तक अच्छा है। खुदा इससे खुश नहीं होता'। यह तो पीर और काजी मुल्लाओं की बेईमानी हैं जो लोगों को भरमाते हैं। लोगों को ऐसा नहीं करना चाहिये यह कबीरजी का कहना है।

कबीरजी का आशय है कि सभी प्राणी हिन्दू हों चाहे मुसलमान वैष्णवधर्म में प्रवेश करें जभी उनका कल्याण होगा। रामानन्द सम्प्रदाय का वैष्णवधर्म सभी प्राणी धारण कर सकते हैं। आचार्य रामानन्द ने वैष्णवधर्म का द्वार सभी वर्गों के प्राणियों के लिए खोल दिया है। कबीरजी उसी वैष्णवधर्म का झण्डा लेकर विश्व को उसमें प्रवेश करने के लिये आवाहन करते हैं। उन्होंने सारे भारत में प्रचार किया और सभी वर्ग को वैष्णव बनाया।

कुछ लोगों ने कबीरजी के सम्बन्ध में लिखा हैं कि उन पर हठयोगियों का तथा सूफी मुसलमान फकीरों का प्रभाव पड़ा है और उसी से उनकी प्रवृत्ति निर्गुण उपासना की ओर दृढ़ हुई। वे रामानन्द के राम से अलग हो गये अतः उन्हें वैष्णव सम्प्रदाय में नहीं ले सकते। ये विचार हर एक अंश में अनर्गल और घृणास्पद प्रतीत होते हैं। रामानन्द के राम से जिस आधार पर कबीरजी को भिन्न बताया है उसे हम आगे के प्रकरण में विवेचनात्मक ढङ्ग से कहेंगे। यहाँ केवल उन्हें वैष्णव सम्प्रदाय से ढकेलकर मुसलमान और हठयोगियों में फेंका हैं उस पर ही विचार करते हैं।

कबीरजी का वैष्णवधर्म के सम्बन्ध में बहुत ही स्पष्ट विचार है। वे विचारों से, व्यवहारों से और भावनाओं से वैष्णवधर्म को ही सामने रखकर मुसलमान काजी, मुल्ला और पीर फकीर को फटकारा है। उसे हम पहले दिखा चुके हैं। हठयोगियों में औघढ़ी विचार चलते हैं और खुलकर उनका भैरव मांस और शराब-खाता-पीता है। वह धारा भी तान्त्रिकी शाक्तों से मिलती सी हैं। महान् कबीरजी ने ऐसी धाराओं को भी वैष्णवधर्म को ही सामने रखकर कड़ी निन्दा की हैं। हठयोगियों के पास क्या था? या मुसलमान सूफी फकीरों के पास भी क्या था? जिसका प्रभाव कबीरजी के ऊपर पड़ता। हम पहले लिख चुके हैं कि लोकप्रसिद्ध आचार्य रामानन्द के चरणों में बैठकर कबीरजी ने सब कुछ सीखा है। उस महान् सूर्य के प्रकाश में वैठकर कबीर क्षुद्र जुगनू के प्रकाश की आवश्यकता क्या रखते थे। उनपर किसी भी फकीर या हठयोगी का प्रभाव नहीं पड़ा। राम को निर्गुण धारा का बताकर कबीरजी को वैष्णव सम्प्रदाय से अलग कहना और भी भारी प्रमाद है। रामानन्दी वैष्णव सम्प्रदाय के राम निर्गुण और सगुण दोनों हैं यह भी हम पहले दिखा चुके हैं। यदि कबीर निर्गुण धारा के केवल सगुण विरोधी स्वरूप को लेते तो राम को वहाँ

क्यों घसीटते ? वे वहाँ राम को भी छोड़ देते जभी उनकी निर्गुण धारा सिद्ध होती। ऐसे निरर्थक मिथ्या विचारों के आधार पर कबीर को समझना या दूसरों को समझाना अनुपयुक्त है।

कबीर और उनके राम

संसार जानता है कि कबीरजी राम के अनन्य भक्त थे। श्री रामनाम ही उनका जीवन था। उन्होंने राम को छोड़कर दूसरी बात नहीं कही। उनका और राम का क्या सम्बन्ध है इसे वे स्वयं ही कहते हैं।

कबीर कूता राम का मोती मेरा गाऊँ,
गले राम की जेवरी जित खेंचत तित जाऊँ।

(कबीर साखी)

'कबीर राम का कुत्ता है और उसका नाम मोती है। यह कुत्ता राम का पालतू कुत्ता है। इसके गले में राम ने रस्सी बाँध रखी है। वे जिधर इस कुत्ते को खैंचते हैं उधर ही यह जाता है। शरणागति धर्म का यह कितना सुन्दर उदाहरण है। कबीरजी ने यहाँ अपने हृदय को खोलकर परिचय दे दिया है। उन्होंने अपने आत्माराम को राम के चरणों में निवेदित कर दिया है। यह उपासनाकाण्ड का उत्तम रहस्य है। इसमें भक्त अलग होता है और भगवान् अलग होता है। भगवान् की सेवा में भक्त अपने जीवन को भेंट देकर उसी में अपने को खो देता है। वह उस समय जो कुछ करता है उसमें भगवान् की प्रेरणा होती है। कबीरजी के पवित्र भावों में यही सब व्यक्त हो रहा है। ऐसा साकार उपासना में कहा जाता है।

कबीर ने भक्ति के अतिरेक में अपने को भगवान् का कुत्ता ही नहीं माना है और भी अनेकानेक सम्बन्ध स्थापित किए हैं ? कबीर के नन्हें से हृदय में प्रेम का अथाह सागर लहरियां लेता था। प्रेम एवं भक्ति की भाव तरंगों पर तरंगायत कबीर का मन कभी तो अपने राम को माता की प्राप्ति के लिए माँ मान लेता है "हरि जननी मैं बालक तोरा" और कभी 'पियु' "हरि मेरा पिउ

मैं हरि की बहुरिया, राम बड़े मैं छुटुक लहुरिया' सत्य तो यह है कि पराकाष्ठा पर पहुँचा हुआ प्रेम, सम्बन्ध की संकुचित सीमा में नहीं आबद्ध किया जा सकता है। यह विविध सम्बन्ध एवं सम्बोधन भावावेश की सहज स्वाभाविक उद्भावनाएँ हैं। अब यदि कबीर की इन्हीं उद्भावनाओं को सिद्धान्त एवं तर्क की कसौटी पर कस कर उन्हें विविध साम्प्रदायिक शाखाओं प्रशाखों में रखा जाय तो यह भक्त हृदय के प्रति अन्याय ही होगा। कबीर के "पियु" सम्बोधन को पकड़ कर उन्हें "सूफी सम्प्रदाय" अथवा "माधुर्यभावोपासना" के क्षेत्र में ढकेलना संकुचित दृष्टि-कोण का ही बोधक है हृदय एवं बुद्धि की विशालता का नहीं। भगवान् की महानता एवं भक्त की लघुता की अनुभूत्यान्तर्गत अनेक सम्बन्ध बनते और मिटते रहते हैं। भक्ति की अभिव्यंजना भक्त किसी भी रूप में किसी भी ढङ्ग से करने के लिए स्वतंत्र है। तुलसीदासजी ने भी "विनय पत्रिका" में भक्त और भगवान के सम्बन्ध की इस विविधता पर प्रकाश डाला है।

तू दयाल, दीन हौं, तू दानि हौं भिखारी।

... ...

तोहि मोहिं नाते अनेक मानिए जो भावै॥
ज्यों त्यों तुलसी कृपालु चरन सरन पावै॥

कबीरजी की उपासना राम की उपासना है और यह उपासना उन्हें रामानन्दाचार्यजी से प्राप्त हुई है। यह लोक में प्रसिद्ध ही है कि वे उन्हीं के प्रिय और प्रधान शिष्य हैं। आचार्य रामानन्द के राम मर्यादा पुरुषोत्तम भक्तवत्सल, पतित पावन तथा दशरथ नन्दन राम हैं। लोक में जो पवित्र भक्ति की धारा चली है वह इन्हीं राम से सम्बन्धित होकर चली है। राम भक्ति की धारा में राम को सगुण ब्रह्म कहा गया है। सगुण रूप में परस्पर ब्रह्म मूर्तिमान हो जाता है और मूर्तिमान होने पर ही उसकी उपासना

मूखड़ी होती है। उपासनाकाण्ड के अन्दर निर्गुण ब्रह्म का उपयोग नहीं होता किन्तु वह सगुण ब्रह्म से भिन्न नहीं रहता। वह कार्य कारण से सगुण ब्रह्म के भीतर ही रहता है, यही सिद्धान्त की कसौटी का निर्णय है। उपासकों के भीतर यही भाव स्थिर किया जाता है और इसी पर उनकी उपासना चलती है। उपासना के भीतर चार प्रकार के साधन नाम रूप लीला और धाम मुख्य रूप से कहे गये हैं। इनमें भी भगवन्नाम का जप सरल सुलभ बताया गया है। कबीरजी महाराज ने साकारोपासना का सबसे सुन्दर और सबसे सुगम रामनाम का जप ही अपनाया था। रामनाम के जप में कबीर जी की जो निष्ठा थी उसकी उनके युग के रामभक्तों ने भूरि भूरि प्रशंसा की थी। वह रामनाम दशरथनन्दन राम का ही नाम है क्योंकि उन्हीं के रूप की उपासना लोक में प्रचलित हुई है। आचार्य रामानन्द ने कबीरजी को दशरथनन्दन राम की ही उपासना का उपदेश दिया था और वह उनके रोम-रोम में समा गया था। कबीर उसके बिना जी ही नहीं सकते थे। इसे ही कबीरजी ने उपर्युक्त उक्ति में 'कबीर कुत्ता राम का'— में व्यक्त किया है। यह कबीरजी का राम सम्बन्धी स्पष्टीकरण है।

कबीरजी का विषय बहुत ही स्पष्ट है फिर भी किसी इतिहासकार ने साहित्य के क्षेत्र में उन्हें रामानन्द के राम से अलग हुआ बताया हैं। उसने उन्हें केवल रामानन्द के राम से ही अलग नहीं बताया है अपितु उन्हें वैष्णव सम्प्रदाय से ही काट कर हिन्दू धर्म की गोद से बाहर ढकेला है। यह उस महानुभाव का लेख कटु ही नहीं हुआ है, यह महान् कबीरजी के प्रति घृणास्पद भी हो गया है। यह सब कुछ जिस आधार से कहा गया है वह कबीरजी की एक नीचे कही हुई अर्द्धाली है।

'दशरथ सुत तिहुँ लोक बखाना,
राम नाम का मर्म है आना।'

इस उक्ति में वैसा अर्थ किसी तरह ही नहीं निकलता जैसा कि इतिहासकार ने कहा है। इसमें तो दशरथ सुत राम की महिमा कबीरजी ने बहुत कुछ बढ़ा दी है। इसमें तो उन्होंने उपासना का पवित्र रूप खड़ा किया है। वे कहते हैं—'दशरथ महाराज के पुत्र राम की महिमा को तीनों लोक गाते हैं। तीनों लोक—पाताललोक, स्वर्गलोक और मृत्युलोक हैं। इन तीनों लोकों के भीतर ही चौदह भुवन व्याप्त हैं और वे सब मिलकर एक सृष्टि का व्यापक ब्रह्माण्ड बनाते हैं। इस प्रकार कबीरजी कहते हैं कि यह सारा ब्रह्माण्ड दशरथ सुत राम के सामने नतमस्तक होकर उनकी ही महिमा गा रहा है। दशरथ पुत्र को मनुष्य मत मानों वे तीनों लोक के प्रभु हैं। यह प्रथम चरण का अर्थं है। दूसरे चरण में वे कहते हैं उन तीनों लोकों के प्रभु राम के नाम को खाली दो अक्षर ही मत जानो इसके मर्म को भी समझो जो दो अक्षरों में छिपा है। मर्म या अर्थ रहस्य है। रहस्य में रकार अग्नि बीज है जो पापों को नाश करता है वह राम शब्द का प्रथम वर्ण है, अकार सूर्य का बीज है जो जीवों के हृदय से अविद्या को दूर करता है। यह राम शब्द का दूसरा वर्ण है। तीसरा वर्ण मकार है जो चन्द्र का बीज है जिसमें अमृत भरा है यह वर्ण परमानन्द पद जीवों को प्राप्त कराता है। यह रामनाम का मर्म है। इस मर्म को जानना चाहिये, यही रहस्य में कहा गया है। कबीरजी ने दोनों चरणों में उपासना क्षेत्र के मर्यादावतार राम का परात्पर रूप और उनके नाम का रहस्यपूर्ण भाव, नाम और नामी के रूप में लोक के सामने रखा है। यह तो स्पष्ट भावार्थ है। इसमें वह अर्थ नहीं आता जिसमें रामानन्द के राम दशरथ सुत को कबीर ने

न्यून समझ कर छोड़ दिया। यदि कबीर दशरथ सुत को न्यून समझते तो वहां पाठ—'दशरथ सुत को मानुष जाना' कर देते। ऐसा कर देने से उस इतिहासकार का भाव कदाचित् आ सकता था। सो तो कबीरजी ने पाठ किया नहीं, अतः उस सज्जन का वह कबीर सम्बन्धी रामानन्द के राम से अलग होने का कथन यथार्थ नहीं है। यहाँ उसके सम्बन्ध में दो ही बातें उठती हैं, या तो वह उपासना रहस्य से सर्वथा अनभिज्ञ था, या तो उसने हठ-धर्मी के सम्बल को लेकर कबीर को वैष्णव धर्म से अलग करके हिन्दुओं से दूर हटाने का रास्ता सोचा था, इसीसे उसने वैसा वहाँ लिखा है। उस अर्द्धाली के आधार से कबीरजी न तो वैष्णवधर्म से ही अलग हुए और न उन्होंने रामानन्द के राम को छोड़ा ही। उससे तो वे अपने उसी स्थान में और भी दृढ़ हो गये।

कबीरजी के सम्बन्ध में वही निर्णय है जैसा कि हमने पूर्व में लिखा है। वे रामानन्द के ही शिष्य रहे और दशरथ के ही पुत्र राम के भक्त रहे, यही कहना उनके इतिहास में उचित है।

———

कबीरजी और उनकी भक्ति

कबीरजी के सम्बन्ध में लोक में एक विवाद फैला है कि वे-निर्गुणधारा के सन्त थे। निर्गुण-धारा से आशय उन्हें सगुण धारा से अलग करना है। यद्यपि ये दोनों धाराएँ साम्प्रदायिक लोगों के मत विरोध में पारस्परिक विरोधिनी बनी पड़ी हैं परन्तु उनसे कबीरजी का कोई सम्बन्ध नहीं है। कबीरजी के विशाल सम्प्रदाय में सगुण और निर्गुण दोनों ब्रह्म के रूप परस्पर विरोधी नहीं हैं। वे दोनों एक ही हैं। इसका विवेचन हम पहले कर चुके हैं कि निर्गुण तत्व सगुण तत्व से भिन्न नहीं है किन्तु उपासना सगुण तत्त्व की ही होती है निर्गुण की नहीं। सृष्टिकाल में निर्गुण स्वरूप सगुण के भीतर ही रहता है। प्रलयकाल में वह सगुण से निर्गुण रूप ही में पुनः बदल जाता है। इन दोनों रूपों में परात्पर ब्रह्म एक ही है, दो नहीं हैं। जैसे कोई एक व्यक्ति मार्शल जनरल की वर्दी में अपनी ड्यूटी पर दूसरा लगता है। वहीं रिटायर होकर सादा रूप में दूसरा बन जाता है। व्यक्ति में भेद नहीं है केवल वर्दी में नाम का भेद है, ठीक ब्रह्म के सम्बन्ध में भी यही जानना चाहिए। रामभक्ति की धारा में यही भावना ब्रह्म के सम्बन्ध में स्वीकार हुई है।

मोटे रूप से लोग निर्गुण को शंकर का अद्वैत मत समझ बैठते हैं जिसमें सगुण का सर्वथा खण्डन हुआ है और सगुण से दक्षिण के भक्तों का मत समझ बैठते हैं – जिसमें शंकर के अद्वैत-वाद का खण्डन हुआ है। इन विवादों को रामभक्ति की धारा में नहीं अपनाया है। उसमें ऋषि पद्धति के अनुसार दोनों रूपों का समन्वय हुआ है।

कबीरजी ने यदि कहीं निर्गुण विचारों में अपने राम का

वर्णन किया है तो उससे उनकी सगुण उपासना कटती नहीं वरन् वह और दृढ़ होती है क्योंकि उसमें क्रियात्मक शरणागति धर्म होता है और वह निर्गुण विचारों के योग से भावना के क्षेत्र में बलवान बन जाता है। निर्गुण रूप का उपयोग केवल भक्ति-भावना को विशाल और दृढ़ बनाने के लिए ही प्राचीन पद्धतियों में ग्रहण हुआ है। यही कबीरजी की निर्गुण और सगुण धारा के बारे में समझना चाहिये।

कबीरजी ने रचनात्मक भक्ति के विचारों पर जोर देते हुए कहा है :—

'इच्छा के भवसागर बोहित राम अधार'
कह कबीर हरि शरण गहु गोखुर वछ विस्तार।

(कबीर बीजक रमैनी)

"कबीर कहते हैं, अरे जीव ! यदि तू इस दुस्तर भवसागर से पार जाना चाहता है तो तुझे आराम से बैठकर पार जाने के लिए राम की विशाल नौका मिलेगी। कबीरजी ने बोहित शब्द का प्रयोग किया है, बोहित, विशाल और सुदृढ़ नौका का नाम है। वही समुद्र में चल सकती है छोटी नौका नहीं चल सकती। कबीरजी के ध्यान में राम की नौका को छोड़कर सभी नौकाएँ छोटी और कमजोर हैं। वे समुद्र में पार ले जाने का काम नहीं दे सकतीं। वे आगे फिर कहते हैं कि उस राम की विशाल नौका में जाने का प्रमाण पत्र तुझे तब मिलेगा जब तू सब कुछ अपना राम को अर्पण कर देगा। इसलिए हे संसार के दुखी प्राणी तू हरि मर्यादा पुरुषोत्तम राम की शरण ले ले। यह संसार समुद्र तुझे छोटे गऊ के बच्चे के खुर के समान बन जायेगा।

यह कबीरजी की भक्तिधारा का पवित्र मन्त्र है। इसके सामने अब कुछ और शेष नहीं रह जाता जिसे उनकी भक्ति के

सम्बन्ध में कहा जाय। कबीरजी ने स्वयं ही यथासमय और यथास्थान अपना सुन्दर परिचय दिया है, हम उसे नहीं खोजते यह हमारी भूल है।

आधुनिक लेखकों ने कबीरजी को उलझन के रूप में खड़ा कर दिया है, इसी मे लोग उन्हें यथार्थ नहीं समझ पाते। प्राचीन भक्तों का उन्होंने तथा प्राचीन विचारकों का कबीरजी के सम्बन्ध में कोई भी भ्रम नहीं था। उन्हें महान् ज्ञानी, महान् वक्ता और भक्ति के मार्ग का महान् भक्त माना था। भक्ति के क्षेत्र में सभी तरह के भक्त एकत्र होकर कबीरजी की निरन्तर चर्चा करते थे और सुनते थे। इसमें उन्हें प्रभु भक्ति के लिए बल मिलता था। इस बारे में एक वृन्दावन की बड़ी रोचक ऐतिहासिक कथा है। उसे हम नीचे लिखते हैं।

विक्रम सम्वत् की सोलहवीं शताब्दी के अन्दर एक 'श्री हरे-राम व्यास जी' नाम के सन्त श्रीवृन्दावन धाम में हुए हैं। वे पहले ओड़छा नरेश के राजगुरु थे और बड़े विद्वान भी थे। 'व्यास' की पदवी उन्हे काशी के विद्वानों से मिली थी। उनका प्रेम भगवान् श्रीकृष्ण के चरणों में बहुत पहले से था। संसारी झंझटो में उस प्रेम के अन्दर बाधा पड़ती थी। इस कारण उन्होंने गृहस्थ आश्रम का त्याग कर दिया और वैराग लेकर श्री वृन्दावन धाम में चले आये। कहते हैं कि व्यासजी का जन्म १५४७ वि० सम्वत् में हुआ था। गृह त्याग का उनका कोई निश्चित समय नहीं मिला परन्तु जब वे वृन्दावन आ गये थे तब वहाँ श्री 'हित हरिवंश' जी महाराज भी विराजमान थे। उनका उनसे सत्सङ्ग भी हुआ करता था। श्री हितहरिवंशजी भी प्रभु के बड़े ही अनुरागी भक्त थे। श्रीव्यासजी महाराज की साम्प्रदायिक खोज में विवाद सा है कुछ लोग इन्हें निम्बार्कसम्प्रदाय का बताते हैं, कुछ लाग गोड़-सम्प्रदाय के अन्दर कहते हैं और कुछ लोग उन्हें राधावल्लभी

सम्प्रदाय के अन्दर कहते हैं। वे वास्तव में किस सम्प्रदाय में दीक्षित थे यह तो विवाद है परन्तु वे भगवान् श्रीश्यामसुन्दर कृष्ण के भक्त थे यह सही है।

व्यासजी बड़े ही अच्छे भक्त थे, जब वे प्रभु के ध्यान में बैठते थे तब भगवान् की मधुर झाँकी उनके ध्यान में आती थी। उन्हें उसमें जो रस मिलता था वह लोक के बाहर था। इस कोटि के प्रभु के उत्तम भक्त बहुत ही कम होते हैं। व्यासजी अपने युग के बड़े विद्वान भी थे और भक्त भी थे। बहुत से वृन्दावन के प्रेमी सन्त उनके सत्सङ्ग को सदैव इकठ्ठे हुआ करते थे और भक्ति रस के मधुर रस को उनसे सुनते थे। कहते हैं कि एक दिन उन्हें कहीं कबीरजी का कोई पद निर्गुण विचारों का देखने को मिला। उसे देखकर उन्हें भ्रम हुआ कि कबीरजी को लोग महान् भक्तों में कैसे गिनते हैं। इस भ्रम को उन्होंने सन्तों की गोष्ठी में भी व्यक्त कर दिया और आलोचना के रूप में कहा 'कबीरजी ने रस नहीं समझा, उन्हें भक्तों की ऊँची कोटि में तो नहीं कहा जा सकता। व्यासजी के ध्यान में निर्गुण की चर्चा करना भक्ति रस के विरुद्ध बात थी। प्रभु के घर की बात दूसरी थी वे भक्त के हृदय को और प्रेम को देखते थे। निर्गुण भी उन्हीं का स्वरूप है यदि कोई भक्त आगे बढ़कर वहाँ भी प्रभु के सामने रोता है तो प्रभु उसे बुरा नहीं समझते। भक्त किस अवस्था में क्या बोलता है उसे प्रभु ही समझते हैं। इसीलिए गुसांईजी ने कहा है 'कोई कहे सन्त हम चीन्हा। तुलसी कान हाथ धरि लीन्हा'। कोई भी कहे कि 'हमने सन्त को पहचाना' गुसाईजी इसे सुनना नहीं चाहते। अपने भक्त को प्रभु ही पहचानते हैं मनुष्य नहीं पहचान सकते। व्यासजी ने कबीरजी की आलोचना की और लोक ने उसे सुना परन्तु प्रभु को वह बुरी लगी। प्रभु अपने किसी भी भक्त का अपमान कभी भी सहन नहीं

कर सकते तो कबीरजी की बुराई को वे कैसे सह सकते थे। उन्होंने हरे राम व्यास को ही उस अपराध से त्याग दिया।

व्यासजी के ध्यान में नित्य भगवान् श्यामसुन्दर आया करते थे। उस दिन जब वे ध्यान में बैठे तब प्रभु नहीं आये। व्यासजी भी भक्त थे, उनके हृदय को जब प्रभु ने त्याग दिया तब वे बड़े घबराये। उन्हें बड़ा ही दुःख हुआ। 'कटती कही कबीर की परच्यो मिल्यो तत्काल। व्यास हृदय आये नहीं श्रीराधावल्लभलाल'। (निम्बर्क माधुरी में लिखा है) श्रीव्यासजी बेचैन होकर उस समय के महापुरुष श्रीहितहरिवंशजी के पास दौड़े गये और वहाँ उन्होंने अपना दुःख निवेदन किया। हितहरिवंशजी ने कहा, तुमने कोई भागवतापराध किया है'। व्यासजी ने कहा 'मुझे याद नहीं है कि मैंने किसी भी भक्त का अपराध किया हो'। बहुत देर सोचने के बाद उन्होंने कबीरजी के पद की चर्चा चलाई और उसी पर गोष्ठी में कुछ आलोचना की है यह भी कहा। श्रीहितहरिवंशजी ने कहा—'तुमने बहुत बड़ा अपराध कर डाला, तुम्हें प्रभु ने त्याग दिया। अब तुम कबीरजी को प्रसन्न करो तभी प्रभु प्रसन्न होंगे नहीं तो नहीं'।

प्रभु ने उनका त्याग कर दिया है यह सुनकर व्यासजी अधीर हो गये। और तुरन्त वहाँ से उठकर जमुना किनारे चले गये। उन्होंने वहाँ कबीरजी की प्रार्थना आरम्भ की और साथ ही यह भी संकल्प किया कि यदि कबीरजी प्रसन्न नहीं हुए तो वे अपने अपराधी शरीर को जमुना माता को समर्पण देंगे। उन्होंने जमुना किनारे बैठकर एक पद लिखा जिसमें कबीरजी की भक्ति की महिमा भरी है।

कलि में साँचो भक्त कबीर।
जब ते हरिचरनन रुचि उपजी तब ते बुन्यो न चीर।

दियो न लेय न जाँचे काहू पै ऐसो मन को धीर।
पांच तत्व से जन्म न पायो काल न ग्रस्यो शरीर।
योगी, जपी, तपी, सन्यासी इनकी मिटी न पीर।
व्यास भक्ति को खेत जलाह्यो हरि करुणामय नीर।

कबीरजी के स्वरूप को इस पद में व्यासजी ने बड़ी ही श्रद्धा और भावना से खींचा है। उनके अलौकिक जन्म, अलौकिक अन्त अलौकिक त्याग और अलौकिक प्रभु प्रेम का वर्णन इसमें किया है। वे भक्ति के पवित्र क्षेत्र थे और प्रभु की करुणा का जल उस क्षेत्र में खूब ही बरसा है। कबीरजी के समान जोगी, तपी, जपी संन्यासी कोई भी नहीं हुआ। इस पद के लिखते-लिखते कहते हैं कि व्यासजी की बेचैनी अत्यन्त बढ़ गई और उन्होंने शरीर त्याग का निश्चय किया। वे उसके लिए उठे और जमुना में घुसे। उन्हें अपना अपराध याद आया और उसके लिए उन्होंने पुनः पश्चाताप किया। उनके हृदय की वह शुद्धि थी जो उनकी भीतरी तरंगों से हो रही थी। वे शरीर त्याग से पहले ही शुद्ध हो गये। आगे बढ़ने पर जमुना की लहरों में हलचल मची और वे तुरन्त फट गईं। व्यासजी के सामने महान् तेज पुञ्ज कबीरजी खड़े हो गये और उन्होंने उन्हें अपने हृदय से लगा लिया। मस्तक पर हाथ रखा और आशीर्वाद दिया। उनका अपराध दूर हो गया और उन पर प्रभु की वैसी ही कृपा होगी यह भी वरदान मिला। व्यासजी उस दर्शन से कृतार्थ हुए और उसके पश्चात् कबीरजी अन्तरध्यान हो गये।

यह वृन्दावन की प्रसिद्ध कथा है और वहाँ इसका भक्तमाल की कथा में सदैव पाठ होता है। कबीरजी की पराभक्ति के सम्बन्ध में भगवान् और भक्तों के द्वारा स्पष्टीकरण हुआ है। कबीरजी महान् भक्त थे और उनकी भक्ति भी सच्ची और महान् थी। उनके सम्बन्ध में पिछले भक्तों ने यही निर्णय किया है।

आधुनिक लोग उन्हें अपनी बुद्धि के अनुसार जो कुछ भी कहें इस पर किसी का नियन्त्रण नहीं है। राग और द्वेष से सन्त नहीं पहचाने जा सकते। किसी भावना की कट्टरता में भी सन्तों की परीक्षा नहीं होती। सच्चे और महान् सन्तों के विचारों को जल्दी कोई भी नहीं समझ सकता। प्रभु के निकट तक पहुँचे हुए महात्माओं को तो प्रभु ही पहचान सकते हैं।

कबीरजी की भक्ति का प्रकरण यह बताता है कि कोरी भक्ति की कट्टरता से महान् भक्ति का रूप ऊँचा है तथा कोरे ज्ञान की कट्टरता से भी वास्तविक ज्ञान दूर है। विशुद्ध भक्ति में कट्टरता नहीं रहती उसी तरह विशुद्ध ज्ञान में भी कट्टरता नहीं रहती। कट्टरता का सम्बन्ध हृदय की मलिनता से है और वही किसी मार्ग में दोष का रूप बनती है। जब वह सर्वांश में दूर हो जाती है उस समय हृदय में सरलता और पवित्र प्रेम का सञ्चार होना है। वह अवस्था किसी भी भक्ति या ज्ञान मार्गवाले की एक ही होती है और वहाँ प्रत्येक मार्ग का पथिक सर्वत्र अपने ही लक्ष्य को देखता है। ज्ञानीभक्त के अन्दर ज्ञान तत्व को देखता है और भक्त ज्ञानी के अन्दर भक्ति तत्व को देखता है। उस समय अज्ञान का काला परदा सर्वथा हट जाता है। और आनन्द ही आनन्द चारो ओर छा जाता है। ऊँचे प्रभु के भक्त कभी निर्गुण (अवतार से परे कारण स्वरूप) रूप में भी अपने प्रभु को देखने लगते हैं और उसमें मग्न हो जाते है, ऐसा होने पर भी उनकी मर्यादावतार की भक्ति अलग नहीं होतीं अपितु वह और भी महान् हो जाती हैं। साधारण भक्तों में यह बात नहीं होती अतः वे कहीं-कहीं निर्गुण विचार से चमक जाते हैं। कबीरजी तथा हरेराम व्यासजी का ऐसा भी प्रकरण मिला है। वहाँ पर परम भक्तों के स्वरूप में ही महाराज कबीरजी देखे गये हैं और प्रभु द्वारा भी उनका ही समर्थन हुआ है। यह कबीरजी की भक्ति का रूप है।

कबीरजी और योग-विद्या

यह हम पहले संकेत कर चुके हैं कि कबीरजी महाराज महान् योगेश्वर थे। जिस प्रकार भक्ति-मार्ग के परातत्व पर उनका अधिकार था उसी प्रकार योगमार्ग के परमतत्व पर भी उनका अधिकार था। योगमार्ग से हम मन्त्र, हठ, लय तथा राज आदि भेदों से युक्त अष्टाङ्ग योग (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि योग) लेते हैं यही योगविद्या है जिसकी सिद्धि होने पर योगी को त्रैलोक्य में कुछ भी दुर्लभ नहीं रह जाता। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश आदि पंच भूतों पर योगी नियन्त्रण करता है और ब्रह्माण्ड व्यापक प्राणतत्व को अन्तरात्मा में बलात् निरोध करके प्रत्यक्ष कर लेता है। उस समय योगी चाहे तो सृष्टि को समाप्त भी कर सकता है। ऐसे प्रमाण प्राचीन ध्रुव आदि हठी बालयोगियों के इतिहास में आये हैं—

सर्वतो मन आकृष्य हृदि भूतेन्द्रियाशयम्,
ध्यानन् भगवती रूपं नाद्राक्षीत् किंचना परम्,
आधारं महदादीनां प्रधान पुरुषेश्वरम्,
ब्रह्म धारय माणस्य त्रयोलोकाश्चकम्पिरे।

यदैक पादेन स पार्थिवार्भकस्तस्थौ तदङ्गुष्ठ
निपीड़िता मही,
ननाम तत्रार्धं मिभेन्द्रधिष्ठिता तरीव
सव्येतरतः पदे पदे।
तस्मिन्नभिध्यायति विश्वमात्मनो द्वारं
निरुध्यासुमनन्यथा धिया,
लोकानिरुच्छ्वासनिपीड़िता भृशं स लोकपालाः
शरणं ययुर्हरिम्।

(श्रीमद्भागवत, चतुर्थ स्कन्ध, अध्याय, ८)

योगमार्ग में आरूढ़ हुए ध्रुव ने शब्दादि विषय और इन्द्रियों के नियामक उस अपने मन को सभी ओर से खींच लिया और हृदय में स्थित भगवान् के मनोहर स्वरूप का ध्यान किया। उस समय उन्होंने चित्त की चंचल गति का सर्वथा निरोध कर दिया और उसे वहाँ से कहीं नहीं जाने दिया। तदनन्तर उन्होंने महदादि समस्त तत्त्वों के आधार तथा प्रकृति और पुरुष (माया और जीव) के भी अधीश्वर परात्पर ब्रह्म में अपनी धारणा की। उस समय उनका अपार तेज फैल गया और उसके तीनों लोक काँप गये।

जिस समय बालक ध्रुव एक पैर से खड़े होकर ध्यान-समाधि में लय हो गये उस समय उनके पैर के अंगुष्ठ से दबकर पृथ्वी एक ओर को झुक गई। जैसे मत्त गजराज के पैर से दबकर नौका एक ओर को झुक जाती है उसी तरह यह विशाल वसुधरा भी झुक गई। जिस समय उन्होंने प्राण और इन्द्रियों को संयम करके विश्वात्मा भगवान का ध्यान किया और प्राण वायु को रोक दिया उस समय ब्रह्माण्ड की स्वासों की गति बन्द हो गई उससे सम्पूर्ण लोक और लोकपालों को भारी क्लेश हुआ।

बालक ध्रुव ने अपने योगबल से विश्व में विचरने वाली प्राणवायु को अपनी अन्तरात्मा के भीतर खींच कर बन्दी बना लिया। उस समय सारे ब्रह्माण्ड की स्वासें रुक गईं। प्राणवायु के बिना सृष्टि जीवित नहीं रह सकती अतः ध्रुव के द्वारा प्राण रोक देने पर सृष्टि विनष्ट होने लगी। भगवान् विश्वात्मा का सिंहासन डोल गया और वे ध्रुव के सामने प्रगट हो गये। उन्होंने ध्रुव के ध्यान से अपने सूक्ष्म स्वरूप के साथ प्राणवायु को नीचे उतार लिया। ध्रुव की आँखें खुलीं और विश्व में जीवन लौटा। यह योगबल था। हर एक योगी योगविद्या में सफल होकर ऐसा कर सकता है। भारत में असंख्यों योगी युग-युग में होते आये हैं। उनकी पवित्र कथाएँ प्राचीन ग्रन्थों में इतिहास के रूप में पड़ी

हुई हैं। कबीरजी भी भारत के महान् योगी थे। उन्होंने अपने युग में समय-समय पर अपने अलौकिक योगबल का उपयोग भी किया था। यह उनकी झूठी प्रशंसा नहीं है एक सत्य इतिहास है।

इस युग के प्रसंग में एक महत्वपूर्ण बात और यह कहनी है कि निर्गुण-निर्गुण जो लोक चिल्लाता है उसके मर्म को साक्षात् रूप में केवल योगी ही जान सकता है। कुण्डलिनी महाशक्ति के जागृति होने पर जब योगी सुषुम्ना मार्ग में प्रवेश करता है उस समय वह प्राकृतिक गुणों को स्वाभाविक ही जीत लेता है और उन गुणों के जीत लेने पर उसका निर्गुण तत्त्व पर अधिकार हो जाता है। प्रकृति के गुणों से परे रूप परमात्मा का रूप हो जाता है। योगी उसे ही प्रत्यक्ष योग द्वारा देखता है। योगविद्या के बिना निर्गुण तत्त्व को साक्षात् नहीं किया जा सकता यह प्राचीनों का भी मत है।

अयोगिनां ज्ञानं निराकुर्वन् योगिनामेवं ज्ञानं भवतीत्याह।

यावन्नैव प्रविशति चरन् मारुतो मध्य मार्गे।
यावद्विन्दुर्न भवति दृढ़ः प्राणवातप्रबन्धात्।
यावद्ध्याने सहज सदृशं जायतेनैकतत्त्वम्।
तावज्ज्ञानं वदति तदिदं दम्भमिथ्या प्रलापः।

(हठयोग प्रदीपिका)

निर्गुण ज्ञान योगियों को ही प्राप्त होता है दूसरों को नहीं। इस पर कहते हैं कि जब तक सुषुम्ना नाड़ी में बहने वाला वायु ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश करके स्थिर नहीं हो जाता और जब तक उस प्राणवायु के साथ बिन्दु दृढ़ नहीं हो जाता और ध्यान धारणा की स्थिरता के द्वारा स्वाभाविक सूक्ष्म तत्त्वों की प्राप्ति नहीं हो जाती तब तक ज्ञान की चर्चा करना कोरा दम्भ होता है। यह उपरोक्त मन्त्र का आशय है।

कबीरजी ने ज्ञानचर्चा में जो कुछ कहा है वह योगनिष्ठ होकर ही कहा है। उनके बहुत से कथन योग-सम्बन्धी होकर ज्ञानपरक बन गये हैं।

त्रिकुटी मण्डल मध्ये मन्दिर बाजे औघट अम्बर छोजे।
पुहमीका पनियाँ अम्मर भरिया ई अचरज कोई बूझे।
कहें कबीर सुनो हो सन्तो, जोगिनु सिद्धि पियारी।

(कबीर बीजक)

इस युक्ति में कबीरजी ने त्रिकुटी के बीच में मन्दिर बताया है। मन्दिर में भगवान् रहते हैं। कबीरजी के भगवान् राम उसी त्रिकुटी मन्दिर में दर्शन देते हैं। उस स्थान में सदैव आकाश बरसता रहता है। योगियों ने त्रिकुटी में अमृत की वर्षा बताई है। उसी का संकेत कबीरजी करते हैं। उस स्थान में अमृत का सरोवर भी भरा है जिसमें कमल खिला है। यह समाधि-विषयक 'आज्ञा कमल' की बातें हैं। कबीरजी कहते हैं कि योगियों को यह त्रिकुटी की सिद्धि बड़ी ही प्यारी है। सन्तो ! इस आश्चर्यजनक प्रसंग को कोई ही जानता है।

यह विलक्षण कथन संसारियों की समझ के बाहर है। बहुत से लोग तो इन्हीं बातों को निर्गुण मत की बात कह देते हैं। क्योंकि इनमें कोई भी गुण सम्बन्धी अर्थात् भगवान् के मधुर भक्ति-रस सम्बन्धी विचार ही नहीं है। यद्यपि सूक्ष्म रूप से भक्ति-रस भरा है परन्तु भक्त लोग ऐसे रस को पसन्द नहीं करते। उन्हें तो स्थूल दृष्टि में आने वाले भगवान् के मनोहर रूप-सम्बन्धी मधुर रस की आवश्यकता रहती है।

कबीरजी के निर्गुण सम्बन्धी सभी विचार योग धारण के भीतर ही व्यक्त किये गये हैं। योगी होने के नाते से उनका निर्गुण तत्व पर भी अधिकार था। निर्गुण तत्व सगुण तत्व से किञ्चित भी भिन्न नहीं होता क्योंकि दोनों में ही जीवत्व पृथक्

भावना से स्वीकार किया जाता है। अन्तर इतना ही है कि निर्गुण तत्व योग द्वारा अन्तर्दृष्टि से प्रत्यक्ष होता है और सगुण तत्व स्थूल बाह्यचर्म दृष्टि से प्रत्यक्ष होता है। भक्ति भावना दोनों में ही प्रबल रहती है इसी कारण सगुण उपासना के आचार्यों ने निर्गुण-सगुण में कोई अन्तर नहीं माना है। यथा—

'अगुर्णाहि सगुर्णाहि नहि कछु भेदा'

(रामचरितमानस)

यहाँ एक बात और कह देना है। शंकर का ब्रह्मवाद जो लोक में पड़ा है उससे निर्गुण विचार के *शास्त्रीय आधार* पर कोई भी सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि उसके प्रकरण में योग नहीं है। उसका एक विलक्षण ही मार्ग है जिसे भक्ति रस के विद्वानों ने व्यर्थ ठहराया है। परन्तु फिर भी वह स्वतन्त्र है।

यह बात हम पुनः यहाँ दुहरा देना चाहते है कि कबीरजी को जो लोग निर्गुणवादी समझकर शंकर मत की तरफ या और दूसरी किसी धारा की तरफ बताते हैं वे भ्रम से वैसा बताते हैं वे वास्तव में शंकर मत का और निर्गुण मत का भेद नहीं जानते। कबीरजी की एक लकीर भी जिसे उन्होंने किसी भी स्थल पर लिखा है शंकर मत का समर्थन नहीं करती तब वे कैसे उस मत की ओर कहे जा सकते हैं।

योग और भक्ति का प्रकरण देखते हुए कहना अधिक आवश्यक है कि इन दोनों विषयों में पारस्परिक कोई भी विरोध नहीं है वरन् इन दोनों में घनिष्ट सम्बन्ध है। योग के बहुत से साधन भक्ति में गये हैं और भक्ति के बहुत से साधन योग में गये हैं। योग में प्राण के साथ मन का निग्रह है और भक्ति में मन के साथ प्राण का निग्रह है। दोनों के लक्ष्य एक ही हैं। दोनों में 'जीव' अपने प्रियतम से मिलता है। दोनों मार्गों में केवल नाम और कुछ साधन का ही अन्तर है। कबीरजी ऐसे महापुरुष थे जिन्होंने दोनों मार्गों पर अधिकार किया था।

———

रामकृपा पर कबीर का विश्वास

कबीर जी जितने महान् थे उतने ही सरल थे। उनमें कोई आडम्बर नहीं था और न उन्हें योग सिद्धियों का ही अभिमान था। राम के भक्त राम की इच्छा पर अपना जीवनयापन करते हैं। कबीरजी भी इसी तरह अपना कालक्षेप करते थे। काशी में अलग उनका एक आश्रम था। सन्तों का आवागमन वहाँ लगा रहता था। कबीर जैसे महापुरुष का जितना सम्मान होना चाहिये उतना उस समय होता था। भजन-कीर्तन तथा कथा-सत्संग यह सब उनके यहाँ आठोयाम होता रहता था। उनके ऊपर राम की बड़ी कृपा थी, उनके आश्रम का कार्य कोई नहीं रुकता था इस प्रकार कबीरजी का निवास आनन्द से काशीपुरी में हो रहा था।

सन्तजनों के भी द्वेषी संसार में सदैव पैदा होते ही रहते हैं। उस समय भी बहुत से ऐसे द्वेषी लोग काशी में थे जो कबीरजी का का भी अनहित सोचते थे। विशेष करके वहाँ के पुजने वाले ब्राह्मण लोग ही ऐसे थे। वे उनकी प्रतिष्ठा देखकर उनसे डाह करते थे। वे सदा ही ऐसा सोचते रहते थे कि किसी तरह से भी कबीरजी का अपमान किया जाय परन्तु जिसके राम रक्षक उसका कौन भक्षक के अनुसार उनका कुछ भी बिगाड़ नहीं सकते थे। एक समय उन्होंने एक उपाय सोचा कि सन्तों के द्वारा ही कबीर का अपमान कराया जाय। उन सबने काशी के आस पास दूर-दूर तक आदमी भेज भेज कर यह सन्तों में सूचना करवा दी कि कबीरजी के वहाँ अमुक दिन बड़ा भारी भण्डारा हैं। सभी कोई उस दिन काशीपुरी पधारे। कबीरजी को तो इस बात का कोई पता ही नहीं पड़ा और सभी सन्त दूर-दूर से कबीरजी के आश्रम पर उपस्थित हो गये। अचानक सन्तों के झुण्ड के झुण्ड जब कबीरजी ने देखे तब वे हैरान हो गये। इतने सन्तों का प्रबन्ध तो एकाएक

वहाँ कैसे हो सकता था इसी चिन्ता में कबीर जी आश्रम से बाहर निकल कर गंगा किनारे जाकर बैठ गये। चित्त में खेद था कि लोगों ने उनके साथ छल किया।

भक्त के दुख को प्रभु किञ्चित्मात्र भी नहीं देख सकते हैं तो वे कबीर का वह दुख कैसे देख सकते थे। तुरन्त वहाँ भगवान् की कृपा की वर्षा हुई। तरह तरह के पकवान लदे हुए कबीर के आश्रम में पहुँच गये। राम के दरबार में क्या कमी थी। सन्तों का भण्डारा हुआ और बड़ी प्रसन्नता से सबकी बिदाई हुई। कबीर की जै जैकार मची, पर किसी ने यह नहीं जाना कि यह कैसे हुआ। उधर कबीरजी को खबर मिली कि आश्रम पर भण्डारा बड़े ठाट-बाट से हुआ। कबीरजी आश्चर्य में पड़ गये परन्तु पीछे से समझ गये कि प्रभु रघुनाथ जी ने यह कष्ट अपने भक्त के प्रण को रखने के लिये किया है। दुष्ट लोग जिन्होंने यह उपद्रव रचा था—हैरान हो गये। सभी कबीरजी के चरणों में गिरे और उस महिमा से भयभीत हुए। यह कथा भक्तमाल से ली है।

कबीरजी के यहाँ सदैव यात्राएँ लगीं रहती थी। देश-देश के लोग उनके दर्शन को आया करते थे। सभी की इच्छाएँ उनके दर्शन से पूरी हो जाती थीं। हिन्दू लोग उन्हें देवता के समान मानते थे। देवता जैसे लोक का उपकार करते हैं कबीरजी भी उसी तरह लोक का उपकार करते थे। उनके द्वार पर दुखी-दरिद्रियों की भीड़ें खड़ी रहती थीं। वे सभी का रामकृपा से भला करते थे। रोगियों के उनके यहाँ रोग छूट जाते थे और दुखियों के भी दुख छूट जाते थे। इस प्रकार रामकृपा का वहाँ सदावर्त बँटता था। सभी नर-नारी उस प्रसाद को आदर से लिया करते थे। यह कबीरजी की पिछले जीवन की झाँकी है।

कबीरजी के शिष्य पद्मनाभदास

कबीरजी के अनेक शिष्य थे परन्तु उनमें से पद्मनाभदासजी कबीरजी के समान ही रामनाम के अनुरागी थे। उन्होंने रामनाम

को ही सर्वस्व मानकर उसी की पूजा और उसी का जप निरन्तर किया था। वे रामनाम को ही पवित्र तीर्थ समझते थे। उनके ध्यान में राम-नाम से बढ़कर और कुछ दूसरा रत्न नहीं था। ऐसे नियम और व्रत में रहने से पद्मनाभ में काल पाकर राम-नाम की सिद्धियाँ आ गई।

भक्तमाल में कथा है कि एक दिन पद्मनाभ गंगाजी के किनारे जा रहे थे। उन्होंने एक कोढ़ी को गंगाजी के किनारे देखा। वह नगर का एक सेठ था परन्तु कोढ़ी हो गया था। उस क्लेश से मुक्त होने के लिए उसने जीवित ही गंगा में डूब कर प्राण देने का संकल्प किया था। बड़ी भीड़ उस दृश्य को देखने के लिए किनारे पर एकत्र थी। उसकी इच्छा से लागों ने उसे पत्थरों से इस कारण बाँधा था कि वह पानी में गिरते ही डूब जाय। कबीर के शिष्य पद्मनाभ जी वहीं होकर निकले और उन्होंने लोगों से उस व्यक्ति को पत्थरों में कसने का हाल पूछा उन्होंने उत्तर दिया कि उसे डुबाया जायेगा और वह भी स्वयं ही कोढ़ के दुख से डूबना चाहता है। श्री पद्मनाभ जी को उस पर बड़ी दया आई। वे सन्त हृदय थे तुरन्त बोले यह रामनाम की कृपा से अच्छा हो जायेगा, इसे खोल दो। यदि यह तीन बार रामनाम लेकर गंगा में गोता लगावे और जीवन भर रामनाम जपने का संकल्प करे तो इसका कोढ़ दूर हो जायेगा। तेजस्वी बालक पद्मनाभ के कहने के अनुसार उसने वैसा ही करने की प्रतिज्ञा की। उसे खोल दिया गया और गंगा में तीन बार रामनाम लेकर गोता लगवाया गया। उस कोढ़ी की उससे काया कंचन हो गई। पद्मनाभ जी का जै जै कार मनाया गया। सभी भीड़ उनके चरणों में लोट- गई। श्री रामनाम की प्रत्यक्ष महिमा का प्रभाव लोगों ने देखा। काशी नगरी में घर घर वह बात फैल गई कि कबीरजी के शिष्य पद्मनाभदास जी ने भी नाम के प्रताप से कोढ़ी को अच्छा कर दिया।

उधर पद्मनाभदासजी अपने आश्रम पर पहुँचे परन्तु वहाँ भी

उनसे पहले वह उनका समाचार पहुँच चुका था। कबीरजी ने पद्मनाभ को बुलाकर वह समाचार पूछा। पद्मनाभ ने सारा हाल सरलभाव से कह दिया कबीरजी अपने शिष्य की महिमा पर भीतर ही भीतर बड़े प्रसन्न हुये परन्तु ऊपर से उन्होंने कहा "पुत्र तुमने रामनाम की पूरी महिमा नहीं समझी तीन बार रामनाम कहवाकर कोढ़ी को अच्छा किया ? वह तो रामनाम के आभास से ही अच्छा हो जाता।" कबीरजी ने अपने शिष्य को पुनः आशीर्वाद दिया और उसके हृदय में रामनाम की और भी महिमा बढ़ा दी।

लोक में दन्त कथा सुनते हैं कि कबीरजी के पुत्र कमाल ने एक कोढ़ी को अच्छा कर दिया था। इसेसे लोगों में यह भ्रम फैलता है कि कबीरजी के जब कमाल नाम का पुत्र था तो वे गृहस्थ थे। यह सब बात नहीं है। कबीरजी विरक्त महात्मा थे गृहस्थ नहीं थे यह पहले भी लिखा गया है। विरक्त सन्तों में भी शिष्य को पुत्र कहते हैं।

दूसरी बात यह है कि वह कमाल वाली कथा इन्हीं पद्मनाभ दास जी की है क्योंकि इन्होंने ही रामनाम के प्रताप से कोढ़ी को अच्छा किया था। इन्होंने ही वह एक कमाल काम किया था जिसके कारण लोग इन्हें ही कमाल कहने लगे होंगे। इस कथानक से सम्बन्ध रखनेवाले दूसरे कमाल नाम का कोई अलग प्रामाणिक उल्लेख नहीं मिला। अतः पद्मनाभ ही कमाल थे। भक्तमाल के छप्पय में इन्हीं पद्मनाभ का प्रसंग है।

'कबीर' कृपा तें परम तत्व पद्मनाभ परचों लह्यो।
नाम महानिधि मन्त्र, नाम ही सेवा पूजा॥
जप तप तीरथ नाम, नाम बिन और न दूजा।
नाम प्रीति नाम बैर नाम कहि नामो बोले॥
नाम 'अजामिल' साखि नाम बन्धन तैं खोले।
नाम अधिक रघुनाथ तें राम निकट हनुमत कह्यो॥
कबीर कृपा तैं परम तत्व, पद्मनाभ परचौ लह्यो।

(भक्तमाल)

कबीरजी महाराज की कृपा से उनके शिष्य पद्मनाभदासजी ने रामनाम का परिचय प्राप्त कर लिया था। पद्मनाभजी रामनाम को ही महान् धन समझते थे, रामनाम को ही महामन्त्र समझते थे, रामनाम को ही प्रतिमा के रूप में सेवा पूजा करते थे और रामनाम को ही जप, तप एवं तीरथ समझते थे। रामनाम छोड़कर वे दूसरा कुछ नहीं जानते थे।

उनकी प्रीति केवल रामनाम से ही थी और यदि उनका किसी से भी बैर था तो वह भी रामनाम ही से था। वे रामनाम को ही रघुनाथजी का रूप कहा करते थे। संसार के बन्धन को काटने में रामनाम ही समर्थ है इसकी साक्षी भरने में वे अजामिल का नाम लिया करते थे। रामनाम रघुनाथजी से भी बड़ा है इसके समर्थन में वे हनुमानजी का नाम उदाहरण में दे दिया करतै थे। ऐसी वृत्ति उनकी कबीरजी महाराज की कृपा से हो गई थी।

काशी वासी साहु भयो कोढ़ो सो निबाह कैसे।
परि गंगे कृमि चल्यो बूड़िवे को भौर है।
निकसे 'पदम' आय पूछो ढिग जाय कहो।
गही देह खोलौ गुन न्याह गंगा नीर है।
राम नाम कहैं बेर तीन में नवीन होत।
भयो ही नवीन कियो भक्ति मति धीर है।
गयो गुरु पास तुम महिमान जानी अहो।
नाम भास काम कर कहा यों कबीर है।

(भक्तमाल टीका)

यहाँ वही प्रसंग हैं जिसमें पद्मनाभदास जी ने काशी के कोढ़ी को अच्छा किया है। इसे हम पद्मनाभ के चरित्र में ऊपर लिख चुके हैं।

कबीरजी का अन्तिम उपदेश

कबीरजी ने मानवजाति को एक सुन्दर पाठ पढ़ाया। उन्होंने हिन्दू-मुसलमान को धर्म के नाम पर अपराध करने से रोका। उनका उपदेश था कि सभी भगवान् के बनाये जीव हैं न कोई तुर्क है और न कोई हिन्दू है। नीच ऊँच के प्रश्न उठाकर जो लोग एक दूसरे का अपमान करते हैं यह भी बुरा है। न कोई ब्राह्मण है और न कोई शूद्र हैं सभी एक पानी की बूँद से पैदा हुये हैं। कबीरजी चाहते थे कि सभी मनुष्य मनुष्य बनकर रहें। राग, द्वेष और घृणा उनमें से निकल जाय।

एक बूँद से सृष्टि रची है को ब्राह्मण को शूद्र।
रज गुण ब्रह्मा, तम गुण शंकर, सत्तगुणा हरि होई।
कहें कबीर राम रमि रहिये हिन्दू तुर्क न कोई।

(कबीर बीजक)

यह उनकी उक्ति उसी आशय का निर्देश करती है। कबीरजी ने काजी मुल्लाओं को भी मुसलमानी धर्म का प्रचार करने से रोका। उन्होंने कहा, काजियो ! हिन्दुओं के देश में तुम्हारा प्रचार झूठा हैं। परमात्मा के यहाँ से कोई मुसलमान बनकर नहीं आता है। तुम लोग सुन्नत के आधार पर किसी को मुसलमान बनाते हो यह भी झूठा है क्योंकि स्त्रियों की सुन्नत नहीं होती और वे मनुष्य का आधा अंग होती हैं। तब तो मनुष्य आधे अंग से हिन्दू ही रहा पूरा मुसलमान नहीं हो पाया। इससे यह सब ढोंग छोड़ दो सीधे हिन्दू बन कर रहो। इसी में तुम्हारी भलाई है।

काजी तुम कौन कितेव बखानी ।
झंकत वकत रहो निस बारस मति एको नहिं जानी ।
सुनति कराय तुरक जो होना औरत को क्या कहिये ।
अर्ध शरीरी नारि बखानी ताते हिन्दू रहिये ।

(कबीर बीजक)

कबीरजी ने गऊकशी को भी बहुत बुरा बताकर मुसलमानों को फटकारा है ।

भूला वे अहमक नादाना जिन हर दम राम न जाना ।
बरबस आनि के गाय पछारिन गला काटि जीव आप लिया
जियत जीव मुर्दा कर डारे जिसको कहत हलाल हुआ ।
अगनी देखि कहत नहि अहमक, कहत हमारे बड़न किया
उसका खून तुम्हारी गर्दन, जिन तुमको उपदेश दिया ।

(कबीर बीजक)

कबीरजी कहते हैं, अरे मजहब के नाम पर गऊ काटने वाले मूर्खों ! तुमने सबके मालिक राम को नहीं पहचाना है जो तुम्हारे लिये सजा देगा ! तुम बलात् गरीब दीन गाय को पछाड़ कर उसका गला काटते हो और उसकी जान ले लेते हो । जीवित प्राणी को खुदा के नाम पर मुरदा कर डालते हो और उसे हलाल करते हो । एक दिन ऐसा होगा जिसमें उस खून का बदला तुम्हें देना पड़ेगा । तुम जो कहते हो कि हमारे बड़ों ने ऐसा ही किया है यह कुछ नहीं चलेगा । जिसने तुम्हें गऊकशी का उपदेश दिया है उसकी और तुम्हारी दोनों की एक दिन अवश्य गर्दन काटी जायेगी । इससे इस बुरे काम को छोड़ दो ।

अन्त में कबीरजी ने अपने भक्तों को हरिभजन करने का उपदेश दिया है।

हरिजन हँस दशा लिये डोले, निर्मल नाम चुन चुन बोले।
मुक्ता हल लिये चोंच लुभावे, मौन रहें कि हरि गुन गावें।
मानसरोवर तट के वासी, रामचरण चित अन्त उदासी।
नीर क्षीर का करै निवेरा, कहैं कबीर सोई जन मेरा।

(कबीर बीज़क)

कबीरजी ने कहा, 'मेरा वही भक्त है जो हंस के समान रहता है। जो निर्मल रामनाम रूपी मुक्ता चुनता है और हरि की महिमा गाता है। जो संसार से दूर रहकर हृदय में रामजी के चरण का चिन्तन करता है। न उसे कोई शोक है। पाप पुण्य को वह ठीक समझता है। ऐसा ही बनकर सबको ससार में रहना चाहिये।

ये कबीरजी के पवित्र उपदेश हैं। जीवन भर कबीरजी ने ऐसे ही उपदेश संसार को दिये हैं। उन्होंने प्राणी मात्र का निष्पक्ष होकर कल्याण किया है। ऐसे महापुरुष भूतल पर बहुत कम होते हैं।

——

कबीरजी का महाप्रयाण

इस भूतल पर बड़े-बड़े महापुरुष आये और अपना काम करके चले गये उनके त्याग, बलिदान और महान् कार्य लाक में पड़े हैं और संसार उन्हें पुण्य स्मृतियों के रूप में सदैव याद करता रहता है। काल का विधान चक्र ऐसा ही है, जो आता है वह जाता भी है। इस संसार में कोई नहीं रहा और न रहेगा भी। यह नाटक ऐसे ही चलता आया है और ऐसे ही चलता जायेगा।

कबीरजी का जीवन इतिहास संक्षेप में लिखा है और फिर उनका महा प्रयाण अब लिख रहे हैं। उनके जीवन के सजीव चित्र खींचने में कितना उत्साह था चाहे वे उतने ही सुन्दर आये या नहीं, जितने कि वे थे, परन्तु चित्त प्रतिपल यह कहता था कि उस महापुरुष के पवित्र चरित्र लोक के सामने पढ़ने योग्य रूप में आना चाहिये। अब उनके प्रयाण का विषय है जिसे लिखने में दिल टूटता है। जिस संसार ने उन्हें विदा किया होगा उसकी क्या दशा हुई होगी, यह मस्तिष्क से बाहर है।

कबीरजी महाराज के लोक के कार्य समाप्त हो चुके थे। उनके आचार्य भगवान् जो उन्हें आदेश देकर छोड़ गये थे उन्होंने पूरा कर लिया था। सारा देश राममय हो गया था और विपत्ति के बादल भी उसके ऊपर से हट गये थे। रामभक्त सन्तों का एक संयमी दल सभी दिशाओं में भावी विपत्तियों के हटाने के लिये बैठ भी गया था। कबीर जी का कार्य प्रायः समाप्त था, इसलिये अब उन्हें भूतल से प्रभु के धाम में लौटना था। उसी के लिये उन्हें कुछ संकेत भी मिले, जिन्हें उन्होंने प्रसिद्ध शिष्यों को सुनाया! यह बड़े ही दुःख का विषय था। तमाम काशी नगरी में

विजली की तरह फैल गया था। हिन्दू प्रजा बेचैन हो उठी जब उसने कबीरजी के प्रस्थान की बात सुनी। चारों ओर से भीड़े कबीरजी के दर्शन को उमड़ पड़ीं। सबको यह निश्चय हो गया कि उसके युग के सबसे बड़े महापुरुष का उनसे वियोग होगा। वह एक भारी दुख था जिसके द्वारा सभी व्याकुल थे।

कबीरजी के महाप्रयाण सम्बन्धी एक दूसरी सूचना उसी समय और निकली। उसमें भक्तों को पता लगा कि वह महाप्रयाण अवश्य होगा परन्तु काशी में नहीं होगा। वह मोक्षपुरी से बाहर मगहर से होगा। यह एक सनसनी पूर्ण वृत्तान्त था। काशी में शरीर त्यागने से मोक्षधाम मिलता है, मगहर में शरीर त्याग ने से गधा की योनि मिलती है। कबीर जी अन्त में काशी का क्यों त्याग कर रहे हैं इसे लोग नहीं समझ रहे थे। सभी हैरान थे कि ऐसा क्यों हो रहा है। यह भक्त भगवान् की अन्तिम परीक्षा थो। कबीरजी अपनी सभी परीक्षाओं में उत्तीर्ण हुये थे अब वे अपने प्रभु की परीक्षा ले रहें थे। उन्होंने भक्तों के बीच में कहा काशी में तो सबको मोक्ष का सदाव्रत बटता है, यदि उस प्रसाद को वे भी ग्रहण करेंगे तो उनके प्रभु की क्या बड़ाई होगी। संसार कैसे जानेगा कि राम क्या हैं। उन्होंने फिर कहा कि उनके प्रभु राम उनमें रमे हैं और वे अपने प्रभु राम में घुलकर मिल गये हैं। वे अब इस लोक में केवल नाम से हैं वास्तव में नहीं हैं। मगहर का दोष जो व्यासजी के शाप से जीवों की अधोगति में बाँधता है कबीर पर लागू नहीं होगा। मगहर में उन्हीं लोगों को शरीर त्यागने पर भय है जिनके हृदय में प्रभु राम नहीं है। राम के प्यारे भक्तों को मगहर में कोई भय नहीं है। यह एक मगहर की भूमि की व्यास सम्बन्धी प्रतिक्रिया थी। इसमें मगहर वासियों को अलोकिक शाप मोचन का संदेश था। राम की महिमा सर्वत्र

बराबर काम करती है इसका यह सुन्दर स्पष्टीकरण था। उनका पवित्र मूल मन्त्र इस सम्बन्ध में नीचे दिया है।

लोगो तुम हो मति के भोरे।
ज्यों पानी पानी में मिल गयो, त्यों घुरि मिला कबीरा।
जो मैथिल को सांचा व्यास, तो हर मरन होय मगहर पास।।
मगहर मरै मरै नहिं पावे, अन्तै मरै सो राम लजावे।
मगहर मरे सो गदहा होय, भल परतीति राम सों खोय।।
क्या काशी क्या मगहर ऊसर, जो पै हृदय राम बसें मोर।
जो काशी तनु तजे कबीरा, तो रामहि कहु कौन निहोरा।।

(कबीर बीजक)

यह कबीरजी का वचन है। इसमें उनके स्वरूप की पवित्र झाँकी है। वे क्या हैं इसका समाधान है। राम के ऊपर उनका कितना विश्वास है, कितनी श्रद्धा है और कितना अगाध प्रेम है यह इसमें झलकता है। उन्हें लोगों ने निर्गुणवादी लिखा, कोरा ज्ञानाश्रयी लिखा और न जाने क्या क्या लिखा उन सब विवादों का यह खण्डन है। उनके राम साकार मूर्तिमान् राम थे और वे उनके हृदय में निवास करते थे कबीरजी उन्हीं के भरोसे काशी मगहर और ऊसर को समान समझते थे। यह भक्ति की पराकाष्ठा का सच्चा प्रमाण है। इसे एक महान त्याग महान् बलिदान भी कह सकते हैं। भावना के जगत में ऐसा होना अत्यन्त कठिन है। मोक्ष के सुन्दर परोसे हुये थाल को उन्होंने राम के प्रेम पर छोड़ दिया और वे भगवान् विश्वनाथ की पुरी काशी से मगहर प्रस्थान कर गये।

पन्द्रह सौ उनचास में मगहर कीन्हों गौन।
अगहन सुदी एकादशी मिले पौन में पौन।।

१५४६ वि० सम्वत् में मगहर जाने की ख्याति है। वहाँ अगहन शुक्ला एकादशी को परमधाम 'साकेत' गमन हुआ। कहीं-कहीं १५५२ वि० सम्वत् में परम धाम लिखा है परन्तु नहीं है। ऐतिहासिक आधार इन दोनों सम्वतों में मिल जाते हैं। सिकन्दर लोदी का मिलना कबीरजी से बहुत ही आवश्यक है। उसका काल (१५४५-१५७५ वि० सम्वत्) हैं १५४६ तथा १५५२ वि० सम्वत्, महाप्रयाण के मान लेने से सिकन्दर का कबीरजी से मेल हो जाता है। इस मन्तव्य से लगभग २५० वर्ष तक वे भूतल पर रहे हैं। यह हम उनके जन्म समय के प्रकरण में लिख चुके हैं। यहाँ उस विवाद की आवश्यकता नहीं है। वस्तुतः उनके जन्म तथा अन्त के सम्वत् अनुमान से लिखे गये हैं। उनमें बहुत से मतभेद हैं और वे सब सही प्रमाण नहीं देते। हम सम्वतों के फेर में नहीं पड़ते क्योंकि उसमें कोई निष्कर्ष निकलते नहीं दीखता। हमारा विवाद उनके ऐतिहासिक कार्यों के आधार पर हुआ है। उसमें उनका केवल जीवन ही दीर्घकाल तक रहा है। यही साधारण मनुष्यों के के ध्यान में आपत्ति आती है परन्तु महापुरुषों के सम्बन्ध में यह आपत्ति निरर्थक है। इसका भी हमने उसी प्रकरण में समाधान कर दिया है। विशेष जिज्ञासुओं को 'जन्म समय' का प्रकरण। देख लेना चाहिये।

महाराज कबीरजी के अन्तिम क्षण बड़े ही आश्चर्यमय हैं। काशी के उस पार मगहर लग जाता है। बीच में गंगा महारानी ही, दोनों को पृथक करती हैं। कबीरजी के साथ मगहर में भी भीड़ें इकठ्ठी थीं। वे सब अन्तिम दर्शन महापुरुष के करना चाहती थीं। सन्त मण्डली भी उनके साथ थी कबीरजी के परमधाम गमन की सूचना सारे देश में पहले से ही हो चुकी थी। इसी से चारों ओर रामभक्त सन्तों का दल उनसे भेट करने के लिये

मगहर पहुँच चुका था। सन्तों में बेचैनी थी। वे कबीरजी के वियोग को सुनकर घबरा उठे थे; परन्तु वे जानते थे कि उनका संकल्प बदला नहीं जायेगा। कबीर जी सन्तों को हृदय से मिले और उन्हें परम्परा का तथा जगत कल्याण का उत्तरदायित्व सौंपा उन्होंने पुनः आग्रहपूर्वक कहा कि उनके वियोग में वे सब दुखी न हों, प्रभु का खूब भजन करें और संयम से रहें। उसके बाद वे असंख्यों भक्तों से मिले और सबको प्रेम से रामनाम जपने का का आदेश दिया। एकत्र हुई नरनारियों की भीड़ों ने मस्तक से उनके चरणों का स्पर्श किया और अन्तिम आशीर्वाद लिया।

एक ऊँची सी वेदी फूलों से सजाई गयी थी। महाराज कबीर जी उठे और पुनः सबको अन्तिम प्रेम भरी दृष्टि से देखा। राम-नाम का चारों ओर उच्चारण हो रहा था। कबीरजी ने प्रभु राम के पवित्र चरणों का हृदय में ध्यान किया और एक वस्त्र ओढ़कर उस वेदी पर लोट गये। यह अन्तिम दृश्य था। आकाश में सहस्रों बिजलियों की चमक हुई। उनके प्रभु आये और उन्हें अपनी गोद में उठा लिया। एक बार फिर नर-नारियों को वह दिव्य दर्शन हुआ। यह उनका महाप्रयाण था। वे प्रभु के धाम को चले गये।

भजन भरोसे राम के मगहर तजे शरीर।
अविनाशी को गोद में बिलसे दास कबीर॥

———

परमधाम जाने के बाद कबीरजी का समय-समय पर प्रगट होना

महात्माजन अपनी तपश्चर्याओं के बल पर तथा भगवत्कृपा केवल परलोक में न रहने पर भी लोक का उपकार करते रहते हैं। उनमें सर्वज्ञता आ जाती है और वे बहुत कुछ करने में समर्थ हो जाते हैं। वे जब चाहें मनुष्यों के सामने प्रगट हो सकते हैं और सृष्टि के बहुत से कार्य सम्हाल सकते हैं। यह सब कुछ वे भगवत् प्रेरणा से करते हैं और भगवान् के ही निकट रहते हैं। कबीरजी महाराज की भी ऐसी ही कथा संसार में फैलती है। वे परमधाम जाने के बाद भी बहुत बार मृत्युलोक में मनुष्यों के सामने प्रगट हुये हैं। उनकी भक्ति के प्रकरण में हमने 'हरेराम व्यास' की कथा लिखी है। उस समय भी वे भूलोक में नहीं रहते हुये भी प्रकट हुये थे। दूसरी एक और ऐसी ही कथा विक्रम की अठारहवीं शताब्दी में मिलती है। उस समय भी वे प्रगट हुये एक गरीबा नाम के बालक को उपदेश दिये थे। यह एक सच्चा इतिहास है, कल्पित कथा नहीं है। हम उसका संक्षिप्त विवरण नीचे दे रहे हैं।

गरीबदास की कथा

वि० सम्वत् १७८७ में रोहतक जिला के अन्दर एक 'छुड़ानी' नामक ग्राम निवासी, किसी भाग्यशाली बालक को कबीरजी महाराज ने दर्शन देकर अपना शिष्य बनाया था। उस बालक का पहला नाम 'गरीबा' कहते हैं। शिष्य बनाने के बाद गुरुदेव ने उसका नाम वैष्णवी पृथा के अनुसार 'गरीबदास' रखा पूर्ण उपदेश देने के बाद उस बालक को गुरुदेव ने अपना नाम कबीरजी बताया।

बालक की आयु उस समय तेरह वर्ष की थी इस कारण गुरुदेव के समझने में तथा उसके उपदेश को सुनने में वह अच्छी तरह समर्थ हुआ। अन्त में कबीरजी ने अपनी कृपा का हाथ गरीबदास के मस्तक पर रखा और आशीर्वाद दिया। उसके बाद वे अन्तर्ध्यान हो गये।

गरीबदास जी गुरुदेव की आज्ञानुसार भजन करने लगे। उन्होंने महान् कबीरजी के द्वारा उपदेश प्राप्त किया था। उनकी महिमा फिर अवश्य ही बड़ी होनी चाहिये थी। थोड़े ही काल में अध्यात्म सिद्धियों को प्राप्त कर लिया था। आगे चल कर उनके नाम पर एक विरक्त त्यागी महात्माओं का पंथ चला जिसका नाम गरीबदासी पंथ था। वह पंथ अब भी विद्यमान है और भारत के अनेक प्रान्तों में देखा जाता है। यह पंथ भी वैष्णवधर्म का प्रचारक है और कबीरजी के सम्बन्ध से रामानन्द सम्प्रदाय का ही एक अंग है।

गरीबदासजी का उपदेश

महात्मा कबीरदासजी के शिष्य गरीबदासजी ने रामभक्तों की परम्परा के अनुसार ही रामोपासना का प्रचार किया। वे जीव कल्याण के लिए रामभक्ति का मार्ग सर्वोत्तम बताते हैं। रामनाम का जप उनके यहाँ मुख्य जप माना गया है। संसारियों के लिये उन्होंने इसी महामन्त्र को जपने का उपदेश दिया है। उनकी वाणी में योग मार्ग की भी चर्चा आई है। उनके जीवन की ऐतिहासिक घटनाओं से पता चलता है कि वे स्वयं योगी भी थे। निर्गुण सगुण के सम्बन्ध में उनकी भी धारणा है जो कबीरजी या तुलसीदासजी की है। नीचे उनके उपदेशों के कुछ उदाहरण दिये जाते हैं।

निर्गुण सर्गुण एक है दूजा मर्म विकार।
निर्गुण साहिब आप है सर्गुण सन्त विचार।।

(रत्नसागर)

भक्ति के सम्बन्ध में

भजन कर राम दुहाई रे, भजन कर राम दुहाई रे।
जन्म अमोली तुझे दिया, नर देही पाई रे।
देही को देवा लोच हीं, सुर, नर, मुनि भाई रे।
सनकादिक नारद रहें, चहुँ वेदा गाई रे।
भक्ति करें भोजल तरें, सत गुरु सरनाई रे।।

(रत्नसागर)

गरीबदासजी महाराज निर्गुण और सगुण को एक ही तत्व मानते हैं। वहाँ भेद करने को वे भ्रम बताते हैं। भजन के लिये भक्ति का मार्ग स्वीकार हुआ है, उसी को वे भवसागर से पार होने का उपाय बताते हैं। उनका कहना है कि मनुष्य शरीर को सभी देवता और ऋषि मुनि तरसते हैं। चारों वेद और ऋषि सनकादि तथा नारद आदि इसी बात का समर्थन करते हैं। वे राम की दुहाई देकर भक्ति भावना से ही भजन करने का उपदेश देते हैं। वे हर एक को चेतावनी भीं देते हैं कि रामनाम के जप में कदापि ढील न करे।

गरीब, राम रटत नहीं ढील कर हरदम नाम उचार।
अमी महारस पीजिये यौह तत्त बारम्बार।।

(रत्न सागर)

अष्टदल कमल मध्य जाप आजपा चले।
मूल कूँ बन्ध वैराठ छाया।
त्रिकुटी तीर बौह नीर नदिया बहें ।।
सिन्ध सरवर भरे हँस न्हाया।
खेचरी, भूचरी, चाचरी उनमुनी ।।
अकल अगोचरी नाद हेरा।
सुन्न सत लोकको गवन हंसा किया ।।
अगमपुर धाम महबूब मेरा।

(रत्नसगार)

ये सब अष्टांग योग की बातें हैं। चाचरी, भूवरी, खेचरी, अगोचरी, उनमुनी आदि पंच मुद्राओं को योग साधना में सिद्धियों के लिए मुख्य स्थान मिला है। आचार्य रामानन्द की राम रक्षा में इन्हीं पाँच मुद्राओं के साधकों को राज योगियों में गिना है। अष्ट दल कमल, त्रिकुटी, सुन्न सतलोक और अगमपुर आदि अष्टांग योग की समाधी के ऊपर के भेद हैं। रामानन्द सम्प्रदाय से आया हुआ परम्परा द्वारा यह योग गरीबदासजी को प्राप्त हुआ है। यह यह सब उनके महान् गुरु कबीरजी की कृपा है।

गरीबदासजी का पूरा इतिहास अलग है। विशेष उनके सम्बन्ध में जानने की इच्छा वालों को उसे गरीबदासियों के किसी भी स्थान से प्राप्त करके देखना चाहिये।

गरीबदासजी को लिखकर हमने कबीरजी की अमर आत्मा की महानता बताई है। इस सच्चे और अमर इतिहास के लिखने का एक यह भी फल है कि लोग सन्त जीवन के महत्वपूर्ण चरित्रों को पढ़कर उनके सम्बन्ध में अच्छी जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

———

श्री कबीरजी महाराज कृत

ज्ञानगुदड़ी

(ॐ) अलख पुरुष जब कियो पसारा, लख चौरासी धागा डारा।
पाँच तत्व की गुदड़ी बीनी, तीन गुणन से ठाड़ी कीन्हीं।
तामें जीव, ब्रह्म अरु माया, समरथ ऐसा खेल बनाया।३।
शब्द की सुई सुरत कै डोरा, ज्ञान के डोभर शिरजन जोरा।
सीवन पाँच पचीसो लागो, काम क्रोध मोह मद पागी।
काया गुदड़ी का विस्तारा, देखो सन्तों अगम सिंगारा।६।
चाँद सूरज दोऊ पैबँद लागा, गुरु प्रताप से सोवत जागा।
अब गुदड़ी की करहु सियारी, दाग न लागे देखु बिचारी।
जिन गुदड़ी को कियो विचारा, तिनहीं भेंटेउ सिरजन हारा।६।
सुमति के सावन सिरजन धोई, कुमति मैल सब डारो खोई।
धीरज धुनी ध्यान को आसन, सत कोपीन सहज सिंहसान।
जोग कमण्डल कर गह लीन्हा, जुगति फावडी मुरसिद दीन्हा।१२
सेली शील विवेक की माला, दया की टोपी तन धर्म शाला।
मेहर मतंगा मति वैसाखी, मृगछाला मन ही की राखी।
निश्चय धोती पवन जनेऊ, अजपा जपे सो जाने भेऊ।१५
लकुटी लौकी हृदय झोरी, क्षमा खड़ाऊँ पहिर बहोरी।
भगति मेखला सुरति सुमरनी, प्रेम पियाला पीवे मौनी।
उदास कुबरी कलह निबारी, ममता कुत्ती को ललकारी।१८
जगत जंजीर बाँधि जब दीन्हा, अगम अगोचर खिड़की चीन्हा।
तत्व तिलक दीन्हें निरवाना, राग त्याग वैराग्य निधाना।

गुरु गम चकमक मनसा तूला, ब्रह्म अगिनि परगट करि मूला२१
संशय शोक सकल भ्रम जारी, पाँच पचीसौ परगट मारी।
दिल दर्पन करि दुविधा खोई, सो वैरागी पक्का होई।
सुन्न महल में फेरी देई, अमृत रस की भिक्षा लेई।
दुख सुख मैल जगत के भावा, तिरबेणी के घाट छुड़ावा।
तन मन सोधि भयो जब ज्ञाना, तब लखि पायो पद निर्वाणा।
अष्ट कमल दल चक्कर सूझे, जोगी आप आप में बूझे।
इंगला पिंगला के घर जाई, सुख मन नारि तहाँ ठहराई।
ओहं सोहं तत्त्व विचारा, बकनाल में कियो सम्हारा।
मन को मारि गगन चढ़ि जाई, मान सरोवर पैठि नहाई।
छूटे कलमल मिले अलेखा, इन नैनन साहिब को देखा।
अहंकार अभिमान बिड़ारा, घट का चौका करि उजियारा।
अनहद नाद नाम की पूजा, सत्त पुरुष बिन देव न दूजा।
हित कर चन्दन तुलसी फूला, चित कर चाउर सम्पुट मूला।
सरधा चँवर प्रीति कर धूपा, नूतन नाम साहिब कर रूपा।
गुदरी पहिरे आप अलेखा, जिन यह प्रगट चलायेउ भेखा।
सत्त कबीर बकस जब दीन्ही, सुर नर मुनि सब गुदड़ी लीन्ही
रहे निरन्तर सत गुरु दाया, सत संगत में सब कछु पाया।
ज्ञान गुदरी पढ़े प्रभाता, जनम जनम के पातक जाता।
जो जन जाय जपे मध्याना, सो लखि पावे पद निर्वाना।
सन्ध्या सुमिरन जो जन करई, जरामरन भवसागर तरई।
कहें कबीर सुनो धर्म दासा, ज्ञान गुदड़ी करो प्रकाशा।

इति श्रीकबीरजी महाराज कृत ज्ञानगुदड़ी समाप्त

कबीरजी महाराज कृत ज्ञान गुदड़ी की टीका

(ॐ) अलख पुरुष जब किया विचारा, लख चौरासी धागा डारा ।
पांच तत्व की गुदड़ी बीनी, तीन गुनन से ठाड़ी कीन्हीं ।।
तामें जीव, ब्रह्म अरु माया, समरथ ऐसा खेल बनाया ।
शब्द की सुई सुरत कै डोरा, ज्ञान के डोमर सिरजन जोरा ।।

सृष्टि के आरम्भ में उस परमपिता परमात्माने सृष्टि रचना का विचार किया। सर्व प्रथम उसने चौरासी लाख धागे अलग-अलग तैयार किये। ये ही आगे चौरासी लाख योनियाँ हुई। उन धागों की रचना पाँच तत्त्वों (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश) से हुई। तीन गुण (सत, रज और तम) भी उन धागों के साथ सम्मिश्रण हुए। इस प्रकार पाँच तत्व और तीन गुणों से एक गुदड़ी तैयार हुई। आशय यह है कि उस परमात्मा ने अपनी त्रिगुणमयी प्रकृति के योग से सृष्टिरूपी गुदड़ी तैयार की। इस गुदड़ी के भीतर ब्रह्म, जीव और माया का खेल हुआ है। कबीर जी ब्रह्म, जीव और माया इन तीन तत्त्वों को स्वीकार करते हैं। यह उनके विशिष्टाद्वैत मत का विवेचन है। इस गुदड़ी के सीने में शब्द की सुई बनी और सुरत का डोरा बनाया गया। ज्ञान के टाँके लगाकर गुदड़ी में ऊपरी रचना की गई। आशय यह है कि इस सृष्टि में शब्द सुरत चिन्तन और ज्ञान इन तीन की प्रथम उत्पत्ति हुई ? यह जड़ तत्व में जीवन तत्व का सम्बन्ध कहा गया।

सीवन पांच पचीसो लागी, काम-क्रोध मोह मद पागी ।
काया गुदड़ी का विस्तारा, देखो सन्तो अगम सिंगारा ।।
चांद सुरज दोऊ पैबंद लागा, गुरु प्रताप से सोवत जागा ।
अब गुदड़ी की करो सियारी, दाग न लागे देखु बिचारी ।।

इस गुदड़ी में पाँच तत्त्व पचीस प्रकृतियों की सींवन (सिलाई) लगी है । काम, क्रोध, मोह, और मद के रंग में यह गुदड़ी डुबाई गई है । आशय यह है कि इस सृष्टि में पाँच तत्व और प्रकृती चेतना शक्ति में प्रधान कार्य करती हैं तथा काम, क्रोध, मोह और मद सर्वत्र व्याप रहे हैं । कबीरजी कहते हैं, हे सन्तों इस गुदड़ी को कितना सजाया है इसे जीव समझ नहीं सकता । यह बड़ी गुदड़ी (सृष्टि) का विचार हुआ अब काया गुदड़ी पर विचार करते हैं । यह शरीर भी प्रति ब्रह्माण्ड कहाता है । इसमें भी सभी चीजें हैं जो बड़े ब्रह्माण्ड में हैं । इसके भीतर चन्द्र और सूर्य भी हैं जो प्रकाश कर रहे हैं परन्तु उन्हें गुरु कृपा से ही जाना जा सकता है । हे सन्तों इस काया रूपी गुदड़ी का ठीक सम्हाल करना । इसमें दाग नहीं लगना चाहिये । आशय यह है कि दुष्टकर्मों से इस काया को बचाना, वे ही इसमें दाग लाते हैं ।

जिन गुदड़ी को कियो विचारा, तिनको मिल गये सिरजन हारा ।
सुमति के साबन सिरजन धोई, कुमति मैल सब डारो खोई
धीरज धुनी ध्यान को आसन, सत कोपीन सहज सिंहासन ।
जोग कमण्डल कर गह लीन्हा, जुगति फावड़ी मुरसिद दीन्हा

कबीरजी कहते हैंकि जिसने इस शरीर रूपी गुदड़ी पर विचार किया है उसी को इसका बनानेवाला मालिक मिला है । अब यहाँ

से साधना मार्ग चलता है। इस काया को सुमति रूपी साबुन से धोते रहना चहिये कुमति (दुष्ट बुद्धि) ही मैल है उसे नष्ट करना चाहिये। उसे पास नहीं आने देना चाहिये, नहीं तो यह काया गुदड़ी मैली हो जायेगी। सन्त लोग धूनी रमाकर बैठते हैं यहाँ धीरज ही धूनी है और उसके पास बैठना ही ध्यान के रूप में है। कोपीन सत्य है, सहजावृत्ति सिंहासन की चौकी हैं कमण्डल ही योग विद्या है उसे बड़ी सावधानी से ग्रहण करना चाहिये। योग करने की जो युक्ति है जिसे गुरुदेव बताते हैं वही फावड़ी (एक सहारा लेने की लकड़ी) है।

सेली शील विवेक की माला, दया की टोपी तन धर्मशाला।
मेहतर मतंगा मति बैसाखी, मृगछाला मन ही की राखी॥
निश्चय धोती पवन जनेऊ, अजपा जपे सो जाने भेऊ।
लकुटी लौकी हृदय झोरी, क्षमा खड़ाऊँ पहरि बहोरी॥

कबीरजी ने, बाह्यवृत्तियों का विरोध किन साधनों से होगा यहाँ बताया है। शील, विवेक और दया ये गुण साधकों के लिये सर्वोत्तम हैं। शील ही सेली (सिरकी जटा बाँधने का धागा) प्रत्येक वस्तु का विचार रखना ही माला है। दया ही सिर पर रखने की टोपी है। इन तीनों गुणों को सावधानी से धारण करना चाहिये। इस काया को धर्मशाला समझो क्योंकि इसमें जीव यात्री के रूप में ठहरा है। अवधि समाप्त होने पर इसमें नहीं रह सकेगा। परोपकार भावना ही मेहर मतंगा (कमर कसने की सामग्री) है। मति (शुद्ध बुद्धि) ही बैसाखी (मिट्टी खोदने का लोहा लगा छोटा डण्डा) हैं। मन ही मृगछाला है। उसी पर योगी आसन जमाकर बैठें यानी मन को वश में करे। योग साधना में पूरा निश्चय रखना ही धोती (योगी की क्रिया का बहुत पतला वस्त्र) है। (योगी लोग उस वस्त्र को मुँह से निगल कर पित्त कफ शुद्ध करते

हैं) पवन जनेऊ है। पवन का अर्थ प्राणायम क्रिया है इसे योगी प्राणों के जीतने के लिए उपयोग में लाता है। यह क्रिया गुरु द्वारा जानी जाती है और योग साधना में मुख्य होती है। इसका माहात्म्य योग के पवित्र ग्रन्थों में देखना चाहिये प्राणायाम के बाद अजपाजप प्रारम्भ होता है। अजपाजप में जिह्वा बन्द रहती है। भीतरी जीह्वा से वह जप ध्यान के साथ होता है। छड़ी ही तुम्बी का पात्र है और झोली ही हृदय है। क्षमा ही खड़ाऊँ है उन्हें पहनना चाहिये। क्षमा योग में बहुत पवित्र अङ्ग कहा गया है। इस प्रकार पूर्ण त्याग रूप में योगी रहे। यही सार बताया है।

भक्ति मेखला सुरति सुमरनी, प्रेम प्याला पीवे मौनी।
उदास कूबरी कलह निवारी, ममता कुत्ती को ललकारी।
जगत जन्जर बांध जब दीन्हा, अगम अगोचर खिड़की चीन्हा।
तत्वतिलक दीन्हें निर्वाना, राम त्याग वैराग्य निधाना।।

योग साधना में भक्ति ही मेखला कमर में बाँधने की रस्सी) है। योगियों से भक्ति को प्रधान रूप से योग विद्या में ग्रहण किया है। इसके बिना योग नहीं होता ऐसा भी कहा है। सुरति (हर क्षण परमात्मा रूप में ध्यान रहना) ही सुमरनी (हाथ की छोटी माला) है। इस प्रकार भक्ति भावना के साथ योगी को प्रेम का प्याला पीना चाहिए और मौन धारण कर लेना चाहिए। कलह निवारण के लिये उदास रहना ही कुबड़ी (सहारा लेने की बाँस की टेढ़ी लकड़ी) है। योगी के लिये ममता ही कुत्ती है उसे ललकार देना चाहिये। जगत से भी दूर हो जाना चाहिये तभी साधन में सफलता मिलेगी और तब ही वह मन बुद्धि से परे भगवान् का द्वार भी सूझेगा। साधक को चाहिये कि निर्वाण पद के लिये निश्चय करे और रागों को त्याग कर वैराग्य धारण करे।

**गुरु गम चकमक मनसा तूला, ब्रह्म अग्नि प्रगट करि मूला।
संशय शोक सकल भ्रम जारी, पांच पचीसौ परगट मारी।
दिल दर्पण करि दुविधा खोई, सो वैरागी पक्का होई।
सुन्न महल में फेरी देई, अमृत रस को भिक्षा लेई।**

श्रीगुरु महाराज का आशीर्वाद ही चकमक (आग जलाने का पत्थर) होता है। उसे प्राप्त करके और मन को रुई बनाकर ब्रह्म अग्नि (ब्रह्मज्ञान) उत्पन्न करे। योग साधन के द्वारा बड़े परिश्रम के बाद अखण्ड परमात्मा के दर्शन होना ही ब्रह्मज्ञान है। जब वह ज्ञान अखण्ड धारणा में होगा तब संशय और शोक तथा सभी प्रकार के भ्रम स्वभावतः ही नष्ट हो जायेंगे। पंच विकार काम क्रोधादि के साथ पचीस प्रकृतियाँ भी उस समय मर जायेंगी। उसी समय मन रूपी दर्पण शुद्ध हो जायेगा और साधन करने वाला योगी पक्का विरागी बन जायेगा। कबीरजी विरागी के रूप की व्याख्या करते हैं और कहते हैं कि उपरोक्त कही हुई इतनी साधना के बाद ही बैरागी अपने मुख्य पद को प्राप्त करता है। जब वह पक्का बैरागी हो जाता है तब वह शून्य महल (समाधि का त्रिकुटी स्थान) में भी जा-आ सकता है और वहाँ से अमृत रस की भिक्षा भी प्राप्त कर सकता है। योगी को सुश्रुम्ना नाड़ी के द्वारा ब्रह्म रन्ध्र में प्रवेश होने पर चन्द्र नाड़ी से गिराया हुआ अमृत पान करने को मिलता है। यह दुर्लभ क्रिया है। इसे पाकर ही साधक सिद्ध योगी हो जाता है।

**दुख सुख मैल जगत के भावा, तिरवेणी के घाट छुड़ावा।
तन मन शोध भयो जब ज्ञाना, तब लखि पायो पद निर्वाना।
अष्ट कमल दल चक्कर सूझे, योगी आप आप में बूझे।
इंगला पिंगला के घर जाई, सुखमन नारि तहां ठहराई।**

यह समाधि अवस्था का कथन है। जब योगी प्राण जय करके तथा षट चक्रों का भेदन करके अमृत के स्थान तक पहुँच जाता है तब उसके दुख-सुख सभी प्रकार के जगत् के मैल नष्ट हो जाते हैं। वहाँ समाधि में उसे त्रिवेणी गंगा का दर्शन होता है जिसमें स्नान करते ही उसके सभी आवरण हट जाते हैं। यह स्थान योगी के भृकुटि के मध्य में हैं और जगत जीवों को दुर्लभ है। उस त्रिवेणी में स्नान करते ही जीव के तन-मन दोनों शुद्ध हो जाते हैं। तब मन की शुद्धि के बाद ही ज्ञान का अवस्था सामने आ जाती है और तब निर्वाण पद दीखने लगता है। षट चक्रों के कुछ ही अन्तर पर अष्टदल का कमल भी है जब उसमें योगी की प्रगति होती है तब उसे अपना स्वरूप अपने आप ही दीखता है। इंगला, पिंगला और सुषुम्ना इन तीनों योग की नाड़ियों का भी उसी जगह मेल होता है।

ओहं सोहं तत्त्व विचारा, वंक नाल में कियो सम्हारा।
मन को मारि गगन चढ़ि जाई, मानसरोवर पैठ नहाई॥
छूटे कल मल मिले अलेखा, इन नेनन साहिब को देखा।
अहंकार अभिमान विडारा, घटका चौका करि उजियारा॥

योगी को अपने रूप में ही परमात्मा के रूप का विचार होता है। और यह सब ज्ञान ध्यान समाधि में बैठने पर ही योगी सम्हालकर कर सकता है। मन की समाप्ति समाधि में होती है और उसके बाद योगी आकाश तत्व में विचरता है। उस समय योगी को मानसरोवर का भी दर्शन होता है और उसी में घुस-कर वह स्नान करता है। वहाँ पहुँचकर योगी अत्यन्त निर्मल हो जाता है और उसे तब परात्पर भगवान के तुरन्त ही दर्शन

मिल जाते हैं। वह अपनी इन्हीं आँखों से अपने प्रभु के दर्शन करता है। जीव का अहंकार उस दर्शन के बाद ही मिट जाता है, उसी तरह उसका अभिमान भी दूर हो जाता है। परमात्मा को ज्योति घट के भीतर जग जाती है जिससे उसमें फिर अन्धकार (अज्ञान) नहीं आता।

अनहद नाद नाम को पूजा, सत्त पुरुष बिन देवन दूजा।
हितकर चन्दन तुलसी फूला, चितकर चाउर सम्पुटमूला॥
सरधा चमर प्रीतिकर धूपा, नूतन नाम साहिब कर रूपा।
गुदड़ी पहरे आप अलेखा, जिन यह प्रगट चलाये देखा॥

योगी के अन्दर जब विशुद्धता आ जाती है तभी अनहद नाद सुनाई देता है। कबीरजी कहते हैं कि जब अष्टदल कमल का शोधन हो जाता है तब उसी परात्पर सत्य पुरुष के दर्शन होते हैं जिससे बढ़कर कोई देव नहीं है। जिसका नाम 'राम' ऐसा लोक में विख्यात है उस देव का वहां पूजन होता है। उस देव का बड़ा ही सुन्दर नवीन अवस्था का रूप है। उसके पूजन में हित का चन्दन और तुलसी फूल बनावे, चित्त का चाउर सम्पुट में रखे, श्रद्धा का चामर ढुराने को बनावे और प्रीति की धूप जलावे। इस प्रकार अनहद बाजाओं के साथ उस प्रभु का पूजन करे। यह योगियों का समाधि द्वारा किया हुआ मानसिक पूजन है। कबीरजी कहते हैं कि उस अलख पुरुष ने इस गुदड़ी (शरीर) को सर्वप्रथम धारण किया है, अर्थात् वह नाम और रूपवाला साकार पुरुष बना है और उसके बाद यह भेष (सृष्टि परम्परा) आगे चला है।

यह योगियों की गम्भीर खोज है। योग विद्या के द्वारा आत्मा जीव, और परमात्मा का साक्षात्कार हुआ है। योगियों ने इस महान् आविष्कार का लोक में प्रचार किया है। यही सच्चा ज्ञान है। इस ज्ञान के सामने दूसरे ज्ञान कोरे कथन हैं और जीव के लिये निरर्थक हैं।

सत्त कबीर बकस जब दीन्हीं, सुर-नर-मुनि सब गुदड़ी लीन्हीं ।

रहे निरन्तर सत गुरु दाया, सत संगत में सब कुछ पाया ।

ज्ञान गुदड़ी पढ़े प्रभाता, जन्म जन्म के पातक जाता ।

जो जन जाय जपे मध्याना, सो लखि पावे पद निर्वाणा ।

सन्ध्या सुमरन जो जन करई, जरा-मरन भवसागर तरई ।

कहै कबीर सनो धर्म दासा, ज्ञानगुदड़ी करौ प्रकाशा ।

कबीर जी महाराज का यह ज्ञान, योग और भक्ति का समन्वय है। इसमें भगवान् का स्वरूप सगुण ही बताया गया है। इस उत्तम ज्ञान को उन्होंने ज्ञान गुदड़ी की नाम की पद्धति में लिखा है। यह उनका पवित्र ज्ञान देवता मनुष्य और मुनीश्वरों में मान्य हुआ है। उनके महान् गुरु (रामानन्द) की उन पर दया हुई है। उन्हीं की संगति में यह सब कुछ उन्हें मिला है, इस 'ज्ञानगुदड़ी' का जो प्रातःकाल पाठ करता है, उसके जन्म जन्म के पाप नाश हो जाते हैं। जो मध्याह्न के समय पाठ करता है, उसे निर्वाण पद (मोक्ष पद) प्राप्त होता है। जो भाग्यवान् इस ज्ञानगुदड़ी का सन्ध्या के समय पाठ करता है उसके जरामरण रोग नाश होते हैं और वह भवसागर से पार हो जाता है। यह कबीरजी महाराज का कहा हुआ महातम है। सन्तों में इसके प्रचार की आज्ञा धर्मदासजी को हुई है।

(इति कबीरजी महाराज कृत ज्ञानगुदड़ी की टीका समाप्त)

लोकोत्तर विजय की सद्भावना
जन कल्याण की मंगल कामना
पुनः गुरुजनों की वरदोपासना
ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति पर हर्ष
और शान्ति का सम्वाद है अन्त में